"कौटिलीय अर्थशास्त्र में विवाह एवं उत्तराधिकार—एक समीक्षात्मक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध -

अनुसंधानकर्ता

राम चन्द्र तिवारी

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशक

डा० शंकर दयाल द्विवेदी

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत - विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

सन् 1993

"पुरोवाक्"

प्रकृति की रंग-बिरंगी फुलवारी, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों आदि की अद्भुत सृष्टि को देखकर, सूर्य चन्द्र तारों तथा षड् ऋतुओं को यथासमय चक्कर लगाते देखकर ऋषियों ने हृदय की पावन गुहा में समय-समय पर जिस अनुपम राशि के दर्शन किये थे, उन्हीं के सम्बन्ध में ऋक्तन्त्र-" ब्रह्मा वृहस्पतये-प्रोवाच, इन्द्रो-भरद्वाजाय, भरद्वाजः ऋषिभ्यो: ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः" जिसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम शब्दोपदेश वृहस्पति, को वृहस्पति ने, इन्द्र को इन्द्र ने ऋषि भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को शब्दोपदेश किया । "शब्दो वै ब्रह्म" शब्द ब्रह्म है, जो अनेक अक्षरों के संयोगादि से निष्पन्न है । भूतल के जीवधारी तो अक्षर-तत्त्व से अनभिज्ञ हैं । मैं भी इसका अपवाद नहीं । ऐसी अनभिज्ञता की दशा में अभिज्ञता का संज्ञान कराने वाले निर्देशक गुरुवर्य डॉ०शङ्कर-दयाल द्विवेदी के लिए तो "यमेव विद्या शुचि प्रवन्त मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्" हैं । तथा जिन्होंने अपनी मेधावी शक्ति का इस शोध रूपी याग में सोमरस का प्राशण किया, उनके प्रति मैं नतमस्तक हूँ । वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा डॉ० हरिशङ्कर त्रिपाठी संस्कृत विभाग, एवं डॉ० जटाशङ्कर तिवारी दर्शन विभाग ने जो मुझे शोध-कार्य के प्रति सम्बल दिया एतदर्थ मैं उनका ऋणी होकर उन्हें प्रणाम करता हूँ । अरुणोदय काल में पुष्प की सुरभि बिखेरनी वाले प्रो० एवं विभागाध्यक्ष डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय ने जो अपनी मूल्यवान् सम्मति दी, तथा अन्य गुरुजन जिन्होंने समय समय पर सहयोग दिया उनके प्रति भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

इस शोध विषय को प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने का जो शुभ अवसर प्राप्त हुआ उसमें ममतारूपी माँ का स्नेह पूज्य पिता श्री लाल जी तिवारी का "या विद्या सा विमुक्तये" की धारणा तथा आर्थिक सहयोग, एवं स्वर्गीय पूज्य बाबा जी श्री माताफेर तिवारी, पत्नी नीलम तिवारी, जिन्होंने सूर्योदय एवं सूर्यास्त में आजीवन व्रतोपासना किया, अनुज कृष्ण चन्द्र तिवारी जिन्होंने गृहागमन पर स्वादिष्ट उदुम्बर फल या जलाधानयन किया । पुत्र और पुत्री रुचा का जो स्नेहिल व्यवहार मिला वह सब शोध कार्य की परिपूर्णता के लिये पाथेय बन गया । अतएव ममतामूर्ति माँ, आकाश तुल्य पिता, तथा पग पग में स्मरण आने वाले बाबा जी को हृदय से प्रणाम प्रकट करता हूँ । अन्तस्थल में नीलम की तरह कान्ति विकीर्ण करने वाली पत्नी, नीलम तिवारी, जलोपचारक अनुज कृष्णचन्द्र तिवारी पुत्र और पुत्री रुचा को भी आशीर्वाद देता हूँ ।

शोध प्रबन्ध में पुस्तकीय सहयोग प्रदान करने वाले डा० राजमन धर द्विवेदी, डा० ज्ञानधर दुबे तथा चलचित्र का काम करने वाले राकेश मिश्र, ओजाश्वी घनश्याम तिवारी, प्रतिभाशाली बलरामाचारी दुबे, अनिल सिंह, तथा बाल सखा राम प्रकाश पाण्डेय, अरुण कुमार तिवारी एवं आर्थिक सहयोग देने वाले डा०दिनेश कुमार द्विवेदी बैधिवेत्ता, अधिवक्ता हाईकोर्ट जटाशंकर पाण्डेय, टंकण करने वाले जय सिंह तथा उत्साह को आजीवन ज्योतिष के माध्यम से ~~बढ़ा करने~~ पढ़ाने वाले शोधछात्र दिव्यकान्त शुक्ल इतिहास विभाग इलाहाबाद, उपायुक्त श्री रामसूरत द्विवेदी इन सभी शुभ चिन्तकों का जो इसमें सहयोग मिला, उनमें बड़ों को प्रणाम, समकक्षीयों को नमस्ते छोटों को आशीर्वाद प्रदान करता हूँ ।

शुभमस्तु ।

दिनाङ्क - 6-9-93

राम चन्द्र तिवारी

(राम चन्द्र तिवारी)
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

"शोध विषय का चयन एवं महत्त्व"

माँ सरस्वती का आँगन अत्यन्त व्यापक है । इस ममतामयी माँ का हृदय इतना विशाल है, दयार्द्र है तथा हितकारी है कि इसने अपनी व्यापकता मे भारत को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण चराचर जगत को समाहित कर लिया है । जहाँ तक संस्कृत वाङ्मयरूपी क्षेत्र का प्रश्न है, उसकी उपयोगिता एवं व्यापकता को कथमपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता । यही कारण है कि इस ममतामयी माँ ने ऐसे-ऐसे पुत्रों को जन्म दिया जिनसे सम्पूर्ण धरित्री धन्य हो उठी है । महामनीषी कौटिल्य भी इसी परम्परा का निर्वहन करते हैं । यद्यपि यह सच है कि कौटिल्य महान् राजनीतिज्ञ थे तथापि उनकी व्यापकता मानव जीवन के इतर क्षेत्रों में भी थी। जिसके द्वारा आप ने भारतीय मानव जीवन का महान उपकार किया ।

जहाँ तक प्रस्तुत शोध-विषय के चयन एवं महत्त्व का प्रश्न है, वह अत्यन्त स्पष्ट है । यद्यपि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय अपनी बहुपक्षीय विशेषताओं से मण्डित है तथापि कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र का भी विशेष स्थान है । वस्तुत. यह ग्रन्थ भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का आधार है । यही कारण है कि विश्व के अनेक विद्वानों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है ।

एक प्रश्न उठता है कि माँ सरस्वती के आँगन में विद्यमान विभिन्न महामनीषी कवियों के होते हुए मैंने कौटिल्य-काव्य को ही अपने शोध का विषय क्यों बनाया ? यद्यपि इस प्रश्न का संक्षिप्त एवं सर्वमान्य उत्तर यह है कि मैं

"भिन्नरुचिर्हिलोकः" का हिमायती हूँ तथापि मेरी इस रुचि के पीछे पर्याप्त कारण हैं । प्रथम तो मुझे कौटिल्य की महनीयता ने प्रभावित किया । द्वितीय, अर्थशास्त्र में वर्णित विवाह एवं उत्तराधिकार के अध्ययन से विविध जीवन ज्ञान बिन्दुओं पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना थी । तृतीय, प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन के मूल्यों में हो रहे विपरिवर्तन ने भी मुझे प्रभावित किया । चौथे कारण के रूप में अपनी सामाजिक जीवन के प्रति लगाव ने भी मुझे इस क्षेत्र में जानने के लिए प्रेरित किया । अन्तिम कारण के रूप में मैं अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति को मानता हूँ । ये ही कतिपय कारण ऐसे थे जिन्होंने मुझे माँ सरस्वती के चरणों मे स्वकीय शोध कार्य रूपी पुष्पाञ्जलि अर्पित करने का सौभाग्य प्रदान किया ।

प्रस्तुत शोध-विषय को मैंने अध्ययन की सुविधा के लिए षड्अध्यायों मे विभक्त किया है । प्रथम अध्याय में अर्थशास्त्र के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है । द्वितीय अध्याय में भारतीय संस्कृत वाङ्मय में विवाह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । अर्थशास्त्र में वर्णित विवाह को तृतीय अध्याय का विषय बनाया गया है । धर्म ग्रन्थों में उत्तराधिकार की अवधारणा और तत्सम्बन्धी विमर्श को चौथे अध्याय का विषय बनाया गया है । अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम और तत्सम्बन्धी विमर्श पर पंचम अध्याय मे विवेचन किया गया है । छठें एवं अन्तिम अध्याय में वर्णित विवाह [illegible] उत्तराधिकार का सम्यक् विवेचन (अधिनियमों के अनुसार) प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है । तदुपरान्त उपसंहार प्रस्तुत किया गया है । संक्षेप में यही शोध विषय की रूप रेखा है ।

शब्द संक्षेप सूची

1-	ऋ० वे०	-	ऋग्वेद
2-	तै० सं०	-	तैत्तिरीय संहिता
3-	अथ० वे०	-	अथर्ववेद
4-	श० ब्रा०	-	शतपथ ब्राह्मण
5-	ता०म०	-	ताण्डय महाब्राह्मण
6-	ऐ० ब्रा०	-	ऐतरेय ब्राह्मण
7-	बौ०गृ०	-	बौधायन गृहसूत्र
8-	वृ०गृ०	-	वृहस्पति गृहसूत्र
9-	का० गृ०	-	कात्यायन गृहसूत्र
10-	आ० गृ०	-	आश्वलायन गृहसूत्र
11-	आप० गृ०	-	आपस्तम्भ गृहसूत्र
12-	गो० ध०	-	गोभिल धर्मसूत्र
13-	तै० उ०	-	तैत्तरीयपोनिषद
14-	ना० उ०	-	नारायणोपनिषद
15-	मनु०	-	मनुस्मृति
16-	या०	-	याज्ञवल्क्य स्मृति
17-	वा०	-	वाशिष्ठ
18-	मि०	-	मिताक्षरा

19-	महा० क० प०	-	महाभारत कण्व पर्व
20-	स्मृ० च०	-	स्मृतिचन्द्रिका
21-	वृह०	-	वृहत्पाराशर
22-	हिरण्य०	-	हिरण्यकेशी
23-	रा०	-	रामायण
24-	विष्णु० पु०	-	विष्णु पुराण
25-	रघु०	-	रघुवंश
26-	का०	-	कामसूत्र
27-	हर्ष०	-	हर्षचरित
28-	आ०भा०रा०चि०	-	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन
29-	कौ० अर्थ०	-	कौटिलीय अर्थशास्त्र
30-	हि० सं०	-	हिन्दू संस्कार
31-	धर्म० इ०	-	धर्मशास्त्र का इतिहास
32-	वै०सा० स०	-	वैदिक साहित्य और संस्कृति
33-	हि० वि०	-	हिन्दू विधि
34-	मु० वि०	-	मुस्लिम विधि

(प्रथम अध्याय)

अर्थशास्त्र का स्वरूप एवं महत्त्व

अर्थशास्त्र का स्वरूप, एवं महत्त्व

इस नश्वर जगत् का अनिवार्य सत्य है-नश्वरता । सृष्टि में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसे पूर्णरूप से नित्य कहा जा सके । आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु इस नश्वरता एवं परिवर्तनशीलता के चिरन्तन सत्य से शासित है । यहाँ यह विचार प्रासङ्गिक है कि तो फिर विधाता की इस लीलामयी सृष्टि का प्रयोजन क्या है ? क्या उसका यह प्रयास मात्र लीला है ? निष्प्रयोजन है ? यदि सभी वस्तुएं नश्वर हैं, कोई, वस्तु चिरस्थायी नहीं है, तो फिर, जगत् में विद्यमान विभिन्न समाजों में घटित होने वाली घटनाओं का क्या होगा ? क्या आने वाली पीढ़ी उससे कोई शिक्षा नहीं लेगी । यदि मानव जन्म मात्र आहार, निद्रा, मैथुन तक ही सीमित है तो व्यक्ति चार्वाकीय सिद्धान्त को अपना कर स्वयं की भौतिक तुष्टि करता रहे । यदि व्यक्ति के जीवन का मात्र लक्ष्य है - खाना पीना और मर जाना तो कोई, बात नहीं, और यदि उसको जन्म लेना निष्प्रयोजन न होकर सप्रयोजन है जीवन लक्ष्यहीन न होकर सलक्ष्य है, और इस नश्वर जगत् में उसके लिए कुछ ऐसे मूल्य अवश्य हैं जो नश्वर तत्त्वों से परिवृत्त होते हुए भी नित्यवत् हैं तो उसके जीवन का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता है ।

यदि निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रकट होता है कि इसमें सत्य अवश्य विद्यमान है कि इस जगत् में अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का उद्देश्य खाने पीने तथा मर जाने तक है, स्वार्थपूर्ति करना ही उनका लक्ष्य है तथा समाज को दिशा देना या न देना- आदि कामों का कोई विशेष महत्त्व उनके लिए नहीं है ।

किन्तु, वहीं यह भी उतना ही सत्य है कि इस विश्व में कतिपय व्यक्ति अवश्य है - जिनके जीवन का उद्देश्य स्वार्थमात्र न होकर परार्थ भी है उनका जीवन इस पांच भौतिक शरीर का बाह्य पोषण करना ही नहीं है, अपितु वे अपने यशःशरीर के लिए जीते हैं, परार्थ उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है तथा यही तथ्य उनके जीवन को सतत् संचालित करता रहता है।

और, जहाँ तक इस देवाभिलषित पावन भारत भूमि की बात है- इसने तो अपनी कुक्षि से अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है, जिसने इतिहास को एक नयी दिशायें दी है, समाज को नई दिशा देते हैं, तथा स्वकीय यशस्काया से अन्य लोगों के लिये सदैव प्रेरणा स्रोत का काम कर रहे हैं। महामहिम कौटिल्य भी इसी पावन परम्परा में अपना स्थान रखते हैं। उनके अर्थशास्त्र में प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति विपुल आभा से संवलित होकर केवल भारतभूमि को ही नहीं वरन् समूचे विश्व को प्रकाशित कर रहे हैं। इससे कौटिलीय अर्थशास्त्र की महत्ता का निदर्शन भारत भूमि से बाहर भी हो जाता है।

अर्थशास्त्र का रचना काल

"अर्थशास्त्र" कौटिल्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ है जिसमें उपवृद्ध हेतु सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक विचारों ने आधुनिक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों को चकित कर दिया है। अर्थशास्त्र की रचना और रचनाकार के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में जाली का मत है कि कौटि

का अर्थशास्त्र एक धोखा देने वाली चीज है, जिसे कि सम्भवत: तीसरी शताब्दी ईसवी में तैयार किया गया था । अर्थशास्त्र का रचनाकार कोई मन्त्री नहीं था वरन् एक सिद्धान्तशास्त्री था । कौटिल्य नाम झूठा है क्यों कि परम्परागत स्रोतों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता । मेगस्थनीज ने कहीं भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है । इसी प्रकार पतन्जलि ने अपने "महाभाष्य" में कहीं भी कौटिल्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जब कि चन्द्रगुप्त एवं अन्य मौर्यों का उल्लेख किया है । मिस्टर जाली के अतिरिक्त डी0आर0 भण्डारकर, ए0बी0कीथ, विण्टरनित्ज आदि विद्वानों का मत है ; कि यह पुस्तक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के पश्चात् ईसाई युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखी गयी ।

जाली, कीथ एवं विंटरनित्ज कौटिल्य के अर्थशास्त्र को मौर्य मन्त्री की कृति नहीं मानते हैं । यह कथन कि उस व्यक्ति के लिए जो आदि से अन्त तक एक वृहद् साम्राज्य के निर्माण में लगा रहा, इस पुस्तक का लिखना सम्भव नहीं था, बिल्कुल निराधार है । पूँछा जा सकता है कि सायण एवं माधव को कैसे इतना समय मिला कि वे विपत्तियों से घिरे रहकर भी वृहद् ग्रन्थों का निर्माण कर सके ?

परन्तु डॉ0 रामाशास्त्री, गनपति शास्त्री, एन0एन0ला स्मिथ तथा जायसवाल आदि विद्वान् उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं । उनका मत है कि अर्थशास्त्र का रचना-काल चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल ही है । अर्थशास्त्र वही ग्रन्थ है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ प्रदर्शन के लिए की थी ।

डा० श्यामलाल पाण्डेय का कथन है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्य काल की रचना हो, चाहे उसके पश्चात् किसी समय का नवीन संस्करण हो, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इस अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों[1] की स्थापना की गयी है, मौर्यकालीन ही है।" ~~अर्थशास्त्र-राजनीति शास्त्र की रचना-~~

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ का नाम राजनीति शास्त्र न रखकर "अर्थशास्त्र" क्यों रखा ? कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे दण्ड का विवेचन कर रहे हैं। दण्डनीति शब्द प्राचीन काल से भारत में राजनीति से सम्बन्धित विद्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। शुक्र ने राजनीति विद्या को दण्ड नीति की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ का नाम-करण का स्पष्टीकरण किया है, उनका कहना है कि - " मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।"

जहाँ तक अर्थशास्त्र के स्वरूप का प्रश्न है- वह अत्यन्त स्पष्ट है। परम विद्वान् कौटिल्य ने विविधविषयक विचारों को सुष्ठु रूप देकर उसे एक विपुल ग्रन्थ का रूप दिया है। अर्थशास्त्र का स्वरूप अत्यन्त व्यापक एवं स्पष्ट है। कौटिल्य ने स्वकीय अर्थशास्त्र को विभिन्न अधिकरणों एवं प्रकरणों में विभक्त करके एक स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया है। उपलब्ध कौटिलीय अर्थशास्त्र में 15 अधिकरण विद्यमान हैं। प्रत्येक अधिकरण में कुछ प्रकरण हैं जिनमें विविध विषयों का वर्णन किया गया है। अर्थशास्त्र में वर्णित अधिकरणों को निम्नवत् गिनाया जा सकता है।

1- विनयाधिकारिक ।

2- अध्यक्ष प्रचार ।

3- धर्मस्थीय ।

4- कण्टकशोधन ।

5- योगवृत्त ।

6- मण्डलयोनि ।

7- षाड्गुण्य ।

8- व्यसनाधिकारिक ।

9- अभियास्यत्क कर्म ।

10- साङ्ग्रामिक ।

11- वृत्तसंघ ।

12- आवलीयस ।

13- दुर्गलम्भोपाय ।

14- औपनिषदिक ।

15- तन्त्रयुक्ति ।

पुनश्च उपर्युक्त अधिकरणों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकरण हैं जो विविध विषयों को स्वयं में समेटे हैं । सम्पूर्ण प्रकरणों की सङ्ख्या 180 है, किन्तु यह विभाग अध्यायों के विभाग से - व्यत्यस्त ( ) हो जाता है ।

जहाँ तक अर्थशास्त्र में वर्णित विषयों का प्रश्न है- यह तथ्य सुस्पष्ट है । अर्थशास्त्र ने स्वयं में अनेकों विषय-विचारों को ग्रहण करके प्राचीन भारतीय संस्कृति

को उपकृत किया है । भारतवासी ही नहीं वरन् समूचा विश्व इसमें वर्णित विविध विषयों से विविध रूपों से उपकृत हुआ है - अधिकरण -क्रम से अर्थशास्त्र में वर्णित विषयों को निम्नवत् अवलोकित किया जा सकता है ।

प्रथम प्रकरण का नाम है - विनयाधिकारिक । इस अधिकरण में मुख्य रूप से एक राजकुमार को दिये जाने वाले विनय एवं तत्शिक्षण विषयक विषयों को स्थान दिया गया है । इन विषयों में विद्याविषयक विचार आन्वीक्षकी एवं त्रयी विद्या का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त वार्ता एवं दण्डनीति, वृद्धजनों की संगति, कामक्रोधादि षड् दुर्गुण रूप अन्तरशत्रुओं का परित्याग, सदाचारी राजा की जीवन चर्या, अमात्योंकी नियुक्ति, मन्त्रियों एवं पुरोहित की नियुक्ति अमात्य-आचरण-परीक्षा, आदि विषय वर्णित हैं । इसके अतिरिक्त गुप्तचरों से सम्बन्धित विविध विषय यथा-गुप्तचरों की नियुक्ति क्यों तथा कैसे की जाय ?, गुप्तचरों की क्या योग्यता होनी चाहिए, इत्यादि विषयों को भी महामहिम राजनीतिशास्त्री कौटिल्य ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है ।

राजा स्वकीय देश के कृत्य-अकृत्य की कैसे रक्षा करे, शत्रु देश के कृत्याकृत्य को कैसे मिलाये, एवं मन्त्राधिकार विषयक विषय भी उस महान कवि की लेखनी से नहीं बच सके । इसके अतिरिक्त सन्देशवाहक के रूप में राजदूतों को शत्रुदेश में भेजना, राजपुत्रों से राजा की रक्षा, राजकुमार एवं राजा का सम्बन्ध राजा के कार्य, राज-भवन का निर्माण एवं आत्मरक्षा का प्रबन्ध आदि विषयों को भी इस महान् विभूति ने अपनी पावन राशि का विषय बनाकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है ।

दूसरे अधिकरण का नाम है - अध्यक्ष प्रचार । इसमें जनपदों की स्थापना ऊसरभूमि को उपयोगी बनाने का विधान, दुर्ग-निर्माण, दुर्ग से सम्बन्धित राजभवनों तथा नगर के प्रमुख स्थानों का निर्माण कोषगृह का निर्माण,कोषाध्यक्ष का कर्तव्य , समाहर्ता, अक्षपटल से सम्बन्धित गणनिक उच्चाधिकारियों के चरित्र की परीक्षादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त,सुवर्णाध्यक्ष के कर्तव्य, खान से सम्बन्धित विजय,पण्याध्यक्ष कुप्याध्यक्ष, आयुधागाराध्यक्ष, तौल एवं माप से सम्बन्धित अध्यक्ष आदि का वर्णन भी इस अधिकरण में मिलता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न विभागों के अध्यक्षों यथा-सूत-व्यवसाय का अध्यक्ष,कृषि-विभागाध्यक्ष, आबकारी विभाग का अध्यक्ष, वधस्थान का अध्यक्ष,वेश्यालयों का अध्यक्ष, पशु विभाग का अध्यक्ष, अश्वादि भाग का अध्यक्ष तथा गजशाला का अध्यक्ष का भी वर्णन मिलता है । सेना से सम्बन्धित विषय यथा- हस्तिसेना, रथसेना एवं पैदल सेना का भी विषय इस अधिकरण में समाहित है ।

इसके अतिरिक्त मुद्राविभाग,चारागाह विभाग तथा नागरिकों के कर्तव्यों का वर्णन भी इस अधिकरण का विषय बनाया गया है ।

धर्मस्थीय नामधारी तीसरे अधिकरण में शर्तनामों का लेखन प्रकार एवं तत्सम्बन्धी विवादों का निर्णय, विविध वैवाहिक विषय, उत्तराधिकार विषयक विषय, गृह-निर्माण एवं उसका विक्रय, कृषि भूमि एवं उससे सम्बन्धित विवाद, ऋण लेना धरोहर सम्बन्धी नियम,दास एवं श्रमिक सम्बन्धी नियम, स्व-स्वामि-सम्बन्ध साहस, वाक्-पारुष्य, दण्ड पारुष्य,एवं द्यूत से सम्बन्धित कुछ विषय अपना स्थान बनाये हुए हैं ।

चौथा अधिकरण जिसका नाम है कण्टकशोधन, में कौटिल्य के कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारों को स्थान मिला है । इसमें शिल्पियों एवं व्यापारियों से प्रजा की रक्षा, देवी आपत्तियों से प्रजा की रक्षा, गूढ़षडयन्त्रकारियों से प्रजा की रक्षा, गुप्तचरों द्वारा दुष्टों का दमन, चौर्यविषयक अनेकविषय, सरकारी विभागों का निरीक्षण, शुद्ध एवं चित्र नामक द्विविध दण्ड, कुमारी कन्या से संभोग करने पर देय दण्ड एवं अतिचार से सम्बन्धित दण्ड आदि का वर्णन किया गया है ।

योगवृत्त नामक पाँचवें अधिकरण में राजद्रोही उच्चाधिकारियों के सम्बन्ध में दण्ड व्यवस्था, कोष का अधिकाधिक संग्रह, भृत्यभरण-पोषण, राज्य-कर्मचारियों का राज्य के प्रति व्यवहार, व्यवस्था का यथोचित पालन, विपत्ति काल में राज-पुत्र का अभिषेक एवं एकच्छत्र राज्य की प्रतिष्ठादि क्रियाों को वर्णन किया गया है ।

छठें अधिकरण जो मण्डलयोनि नामक शीर्षक से जाना जाता है, में प्रकृतियों के गुण, तथा शान्ति एवं उद्योग से सम्बन्धित विषय हैं ।

षाड्गुण्य नामधारी 7वें अधिकरण में षड्गुणों का उद्देश्य और क्षय, स्थान एवं वृद्धि का निश्चय, बलवान् का आश्रय, विभिन्न राजाओं से सम्बन्ध, यान-विचार विभिन्न सन्धियाँ, शत्रु व्यवहार एवं अन्य अनेक विषय वर्णित हैं ।

प्रकृतियों का व्यवसन एवं उनका प्रतिकार, राजा एवं राज्य व्यसन, सामान्य पुरुष व्यसन, विभिन्न वर्ग, तथा सेना एवं मित्र-व्यसन नामक अनेक विषय व्यसनाधिकारिक नामक 8वें अधिकरण हैं ।

9वें अधिकरण में आक्रमण, सैन्य संगठन, मुकाबला, क्षय व्यय एवं लाभ विचार, विभिन्न आपत्तियां एवं उनके प्रतिकारों से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया गया है ।

साङ्ग्रामिक नामक दशम अधिकरण में युद्ध एवं सेना से सम्बन्धित विषय हैं यथा- छावनी निर्माण, कूटयुद्ध, सेना प्रयाण, युद्ध योग्य भूमि, पदाति, अश्वस्थ, तथा हस्ति सेनाओं के कार्य एवं व्यूह निर्माणादि विषय वर्णित हैं ।

11वें अधिकरण में भेदक प्रयोग एवं उपांसुदण्ड-नामक विषय वर्णित हैं । इस अधिकरण को "वृत्तसंघ" के नाम से जाना जाता है ।

आवलीयस नामक 12वें अधिकरण में दूतकर्म, मन्त्रयुद्ध, सेनापतिवध एवं राजमण्डल की सहायता, शस्त्र रस तथा अग्नि का गूढ़ प्रयोग, तथा विविध उपायों द्वारा विजयोपलब्धि आदि का वर्णन किया गया है ।

दुर्गलम्भोपाय नामक 13वें अधिकरण में जो विषय वर्णित हैं उनमें, उपजाप, कपट उपायों द्वारा राजा को लुभाना, गुप्तचरों का शत्रु देश में निवास,

शत्रु दुर्ग पर अधिकार करना, तथा विजित देश में शान्ति संस्थापना विषयक विविध विषय वर्णित हैं ।

औपनिषदिक नामधारी ।4वें अधिकरण में शत्रुवध, प्रलम्भनयोग, प्रलम्भयोग में औषधि एवं मन्त्र का प्रयोग तथा शत्रु द्वारा किये गये घातक प्रयोगों के प्रतिकारादि का वर्णन है ।

अन्तिम अधिकरण, ।5वें जिसे "तन्त्रयुक्ति" नाम" से अभिहित किया जाता है, में ग्रन्थ की योजना दी गई है जिसमें सोदाहरण 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन है जिनका उपयोग अर्थ-विचार में किया जाता है ।

महत्त्व

प्राचीन भारत की राजनीति और शासन के क्षेत्र में आचार्य कौटिल्य-रचित अर्थशास्त्र अपना अप्रतिम स्थान रखता है । इतना ही नहीं, यदि इसे "विश्वकोश" की उपाधि से भी अभिहित किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । यद्यपि कौटिल्य द्वारा विरचित इस पावन ग्रन्थ का प्रधान विषय राजनीति एवं शासन सम्बन्धी अवधारणायें ही हैं ; तथापि यदि इसका गहन अध्ययन किया जाय तो यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि इसकी परिधि यहीं तक सीमित नहीं है । इसने अपनी सीमाओं में राजनैतिक विषय तो समेटे ही हैं, इसके अतिरिक्त इसमें धर्म, कर्म, शिक्षा नीति, समाज-विज्ञान, कृषि और यहाँ तक कि मन्त्र-तन्त्रादियों को भी स्थान दिया है, जिसके कारण इसकी महत्ता में चार चाँद लग गये हैं । इस प्रकार अर्थशास्त्र में यदि एक तरफ राजनीति एवं शासन-प्रधान विषय अपनी स्थिति बनाकर आज भी भारतराष्ट्र की सेवा कर रहे हैं, तो वहीं विभिन्न धार्मिक विषय भी धर्म-प्राण देवाभिलषित भारत भूमि का उपकार कर रहे हैं । यदि समाजोपयोगी विभिन्न विषयों से समलङ्कृत अर्थशास्त्र समाज का हित साधन कर रहा है तो विभिन्न अर्थप्रधान विषयों द्वारा भारतीय मनीषा उपकृत हो रहीहै । यदि अर्थशास्त्र में वर्णित विभिन्न साहित्य शास्त्रीय विषयों से परवर्ती काल के अनेक कवि बहुविध उपकृत हुए हैं तो वहीं इसमें बहुविध ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पड़ी है । इतना ही नहीं

इसमें यत्र-तत्र बिखरे विभिन्न दार्शनिक विषयों द्वारा इसके दार्शनिक महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है ।

इस प्रकार इन सर्वांगीण एवं सर्वतोन्मुखी विशिष्टताओं से समन्वित अर्थशास्त्र की महत्ता को निम्न बिन्दुओं अन्तर्गत देखा जा सकता है ।

1- धार्मिक महत्त्व ।

2- सामाजिक महत्त्व ।

3- आर्थिक महत्त्व ।

4- राजनैतिक महत्त्व ।

5- साहित्यिक महत्त्व ।

6- ऐतिहासिक महत्त्व ।

1- धार्मिक महत्त्व -

भारत सदा से ही एक धर्मप्राण देश रहा है । धर्म, इसके प्रत्येक अंग में समाया हुआ है । धर्म से रहित किसी वस्तु की कल्पना करना विशेष कर भारत के विषय में स्वयं में हास्यास्पद लगता है । भारतीय कवि एवं लेखक धर्म से रहित विषयों को छूने का साहस नहीं कर सका है । आचार्य कौटिल्य ने भी इसी परम्परा का सार्थक निर्वाह करने का प्रयास किया है ।

यद्यपि अर्थशास्त्र एक राजनीति प्रधान ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न राजनीति

विषयक विषय भरे पड़े हैं, तथापि यदि सम्यक्‌रूप को देखा जाय तो स्पष्ट होता है इन्हीं विषयों में विभिन्न धर्म विषयक विषय भी अपना स्थान बनाये हुए हैं। विभिन्न तथ्यों के अवलोकन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र में वर्णित विभिन्न विषय की धर्मानुप्राणित हैं।

अर्थशास्त्र में वर्णित विभिन्न धर्मों के विषयों की महत्ता पर प्रकाश डालने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय मनीषा का धर्मविषयक विचार क्या था ? उनका धर्म से अभिप्राय क्या था ? वे धर्म पालन आवश्यक क्यों मानते थे ? इस क्रम में कौटिल्य का तद्विषयक विचार कैसा था ? आदि।

प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करने पर हमें धर्म की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं के दर्शन होते हैं। कहीं पर सत्य को धर्म कहा गया है तो कहीं अहिंसा को। कहीं अस्तेय धर्म है तो कहीं शौच। कहीं इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक बताकर उसे धर्म माना गया है तो धीः, विद्या, सत्य, आदि को धर्म शब्द से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार महाभारतकार महर्षि व्यास ने उक्त सभी तथ्यों के समन्वित रूप को धर्म की व्यापक परिभाषा से समलंकृत किया है। यथा -

"अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्"।।

महाभारत

वस्तुत: उपरोक्त सभी लक्षण व्यक्ति के सदाचरण के द्योतक हैं । यही कारण है कि महाभारतकार को "आचारो हि परमोधर्मः" कहना पड़ा । आचार्य जैमिनि वेदों में निहित प्रेरणाया, चोदना, को धर्म का प्रधान लक्षण मानते हैं । उनके अनुसार "चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः" । पुनः चोदना की व्याख्या करते हुए उनका कहना कि जो कर्म या अर्थ व्यक्ति को किसी सद् कर्म की तरफ प्रेरित करे वही चोदना है ।

पुनश्च महाभारतकार का कहना है कि जिससे समाज, व्यक्ति एवं प्रजायें धारण की जायें वही धर्म है - धर्म शब्द /धृ धातु से निकला है । धर्म से ही प्रजा का धारण एवं संरक्षण होता है जिससे समस्त प्रजा या मानव समाज का धारण या संरक्षण किया जाय वही धर्म है ।[1]

इतना ही नहीं, नारायणीयोपनिषद में तो धर्म को [illegible] संसार का आधार बताया गया है तथा कहा गया है कि जगत् में जनता धर्मात्मा पुरुष के पास जाती है, धर्म से पाप दूर किया जाता है, सभी धर्म में स्थित हैं, इसी कारण लोग धर्म को "परम" बतलाते हैं ।[2] इतना ही नहीं महाभारतकार तो

1- धारणाद धर्ममित्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः ।
यत्स्याद धारण संयुक्तः स धर्मइतिनिश्चयः ।। -महाभारत कर्णपर्व 69/59

2- "धर्मो विश्वः जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापं अपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद धर्मं परमं वदन्ति"

नारायणीयोपनिषद ।

यहाँ तक कहते हैं कि धर्म से अर्थ कामादि का सेवन किया जाता है ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय मनीषा के लिए धर्म एक ऐसी संजीवनी थी जिसके बिना व्यक्तिसमाज एवं राष्ट्र की मंगल कल्पना असम्भव थी । यही कारण था कि महामनीषी कौटिल्य ने भी विभिन्न धार्मिक विषयों एवं उपदेशों को अपने पावन ग्रन्थ में स्थान दिया है ।

आचार्य कौटिल्य धर्म के अहिंसा विषयक लक्षण को कितना आवश्यक मानते थे इसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में निम्नवत् हैं ।

"अहिंसा धर्म का लक्षण है । सज्जन पुरुष अपने शरीर को भी पराया ही मानते हैं । इसी लिए मांस भक्षण सबके लिए अनुचित है ।"[2]

पुनश्च कौटिल्य कहता है कि सदाचार (धर्म) से आयु एवं यश दोनों की वृद्धि होती है ।[3]

1- धर्मादर्थश्च कामश्च किमर्थं सनसेव्यते । महाभारत

2- अहिंसा लक्षणो धर्मः । स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः । मांसभक्षण मयुक्तं सर्वेषाम् ।

(गैरोला का) -अर्थशास्त्र,तन्त्रयुक्ति नामक 15वाँ अधिकरण, पृ0 982

3- आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ।

15वाँ अधिकरण पृ0 974

कौटिल्य भी वेदविहित धर्म को ही धर्म मानते हैं। उनके अनुसार वेद स्वीकृत धर्म ही वास्तविक धर्म है, जैसे भी हो धर्म का आचरण करना चाहिए। मीठी एवं सत्य वाणी व्यक्ति को स्वर्ग ले जाती है। सत्य से बढ़कर कोई तप नहीं है। सत्य ही स्वर्ग का साधन है। सत्य पर ही संसार टिका है, सत्य से ही जल बरसता है। झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं हैं। आदि[1]

उपर्युक्त उपादेयता के कारण ही कौटिल्य ने धर्म को सभी का भूषण, कहा है।[2]

"अक्रोध" रूप धर्म के लक्षण के विषय में कौटिल्य का कहना है कि क्रोध न करने वाले व्यक्ति की सर्वथा विजय होती है। यदि अपकारी व्यक्ति पर क्रोध करना हो तो पहले क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए। बुद्धिमान मनुष्य

1- न वेद वाह्योधर्मः। कदाचिदपि धर्मं निषेवेत्।

स्वर्गं नयति सुनृतम्।

नास्ति सत्यात् परं तपः।

सत्यं स्वर्गस्य साधनम्।

सत्येन धार्यते लोकः।

सत्याद् वर्षति लोकः।

नान्तात् पातकं परम्।

अर्थशा० 15वाँ अधिकरण पृ0972

2- सर्वेषां भूषणं धर्मः।

पृ0 972

मूर्ख-मित्र, गुरु एवं प्रियजनों के साथ व्यर्थ का विवाद नहीं करते हैं ।[1]

विद्यारूप धर्म-लक्षण के विषय में कौटिल्य का कहना है कि अर्थ तो सबके लिए आवश्यक है, किन्तु निर्धनों के पास धन कहाँ । उनका तो बस एक ही धन है -वह है विद्या जो कि चोरों के द्वारा भी नहीं चुराई जा सकती, विद्या द्वारा ही ख्याति मिलती है, जो कि अविनश्वर है ।[2]

इस चराचर जगत् में स्थित कोई प्राणी दुःख नहीं चाहता । हर व्यक्ति सुख की कामना करता है । सुखरूप प्रयोजन के बिना वह किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । कौटिल्य इस तथ्य से सुपरिचित थे । यही कारण है

1- सर्वं जयत्यक्रोधः ।
वधप्रकारिणि कोपः कोपे कोपएव कर्तव्यः ।
मतिमत्सु मूर्खमित्र गुरुवल्लभेषु विवादो न कर्तव्यः ।

-अर्थशास्त्र की तन्त्रयुक्ति
पृष्ठ - 969

2- विद्याधनमधनानाम् ।
विद्याचोरैरपि नग्राह्या ।
विद्ययाख्यापिता ख्यातिः ।
यशः शरीरं न विनश्यति ।

वही पृष्ठ-966

कि उन्होंने धर्म को सुख का मूल माना है । धर्म का मूल अर्थ है । अर्थ का मूल्य राज्य है । राज्य का मूल इन्द्रिय-जय है तथा इन्द्रिय जय का मूल विनय है "[1]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र राजनीति प्रधान ग्रन्थ है । इसका प्रधान लक्ष्य सदराज नीति एवं सुशासन पर प्रकाश डालकर समाज एवं राष्ट्र में सुख-समृद्धि एवं शान्ति की स्थापना करना है लेकिन उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौटिल्य धर्म की महत्ता को अस्वीकृत न कर सके । यही कारण है कि उन्हें निम्नवत् कहना पड़ा । -

"धर्म ही संसार को धारण किये हैं । धर्माधर्म दोनों मृत पुरुष के साथ जाते हैं । राज्य एवं दान धर्ममूलक होते हैं । धर्म द्वारा लोकों को जीता जा सकता है ।[2]

1- सुखस्य मूलं धर्मः ।
धर्मस्य मूलमर्थः ।
अर्थस्यमूलम् राज्यम् ।
राज्यमूलमिन्द्रियावयः ।
इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः । पृ०संख्या

2- धर्मेण धार्यते लोकः ।
प्रेतमापि धर्माधर्मावनुगच्छतः ।
धर्मेण जयति लोकान् ।

सामाजिक महत्त्व

जहाँ तक अर्थशास्त्र के सामाजिक महत्त्व का प्रश्न है, वह सुस्पष्ट है । अर्थशास्त्र में तात्कालिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं की सुस्पष्ट व्याख्या मिल जाती है । भारतीय संस्कृति के विविध तत्वजीवन-दर्शन, सदाचार वर्णाश्रमधर्म, पारलौकिकी भावना, पुनर्जन्म, राष्ट्रीय प्रेम चतुराश्रम, स्त्रीपुरुष के अधिकार, परिवार के विभिन्न सदस्य, सती-प्रथा, दहेज, विवाह, पुनर्विवाह, नागरिक कार्य- तथा काम क्रोधादि शत्रुओं आदि अर्थशास्त्र के पन्नों में यत्र-तत्र बिखरे हैं । जिनके अध्ययन से उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्ता का निदर्शन हो जाता है ।

प्राचीन भारतीय मनीषियों का जीवन दर्शन कैसा था ? क्या वे मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण का अन्धसमर्थन चार्वाकों की तरह करते थे ?, अथवा उनका कोई आध्यात्मिक दृष्टिकोण था ? । धर्मार्थकाम ही उनके लिए सेव्य था ।? अथवा इनके द्वारा उनकी जीवनदृष्टि पारलौकिकी भावना- मोक्ष के प्रति भी थी ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर कौटिलीय अर्थशास्त्र में बिखरी विभिन्न पंक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है ।

भारतीय जीवनदर्शन के आधार तत्व धर्मार्थ एवं काम के विषय में

अर्थशास्त्र की पारलौकिक दृष्टि भी अत्यन्त व्यापक धरातल पर स्थित है । कहा गया है कि इस शास्त्र द्वारा इह लोक एवं परलोक की प्राप्ति एवं रक्षा होती है ।[1]

वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्त्व हिन्दू समाज में लगभग अनादि काल से है । प्राचीन भारत में व्यष्टि एवं समष्टि के क्रिया क्षेत्रों को एक दूसरे से भिन्न माना गया है, किन्तु उसकी पूर्णता पारस्परिक समन्वय में ही बताई गई है । कौटिल्य ने वर्णाश्रम व्यवस्था से मर्यादित समाज को सुखकर और मुक्तिदायी बताया है । यह मर्यादित वर्णाश्रम व्यवस्था अपने-अपने धर्म के पालन में बताई गई है ।[2]

गीता की भाँति अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि चतुर्वर्णों का उल्लेख करते हुए अनेक कर्तव्यों का निर्देश किया गया है ।

1- एवं शास्त्रमिदं युक्तमेताभिस्तन्त्रयुक्तिभिः ।
अवाप्तौ पालने चोक्तं लोकस्यास्यपरस्य च ।।

अर्थशास्त्र, 15वाँ अधिकरण

पृ0 944

2- चतुर्वर्णाश्रमों लोको राजा दण्डेनपालितः
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु ।

अर्थशास्त्र, प्रथमाधिकरण

पृ0 17

यथा - "ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याजन, तथा दान देना एवं लेना है । क्षत्रिय का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना शस्त्रबल से जीविकोपार्जन एवंप्राणियों की रक्षा करना । वैश्य का धर्म पढ़ना, यज्ञ करना दान देना, कृषि कार्य पशुपालन एवं व्यापार करना है तथा शूद्र का धर्म है कि ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य की सेवा करे, खेती पशुपालन एवं व्यापार करे तथा शिल्प, गायन वादन चारण एवं भाट का काम करे ।"[1] इस प्रकार अर्थशास्त्र चतुर्वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख मिल जाता है ।

इसी प्रकार कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास नामधारी चतुराश्रमों को वर्णन किया गया है । चतुराश्रम के विषय में बताते हुए कौटिल्य निम्नवत् कहता है -

गृहस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे, सगोत्र तथा असगोत्रसमाज में विवाह न करे । ऋतुगामी न हो । देव पितर अतिथि एवं भृत्यजनों को देकर ही अन्त में भोजन करे ।[2]

1- स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं, यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति ।
क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं, दानं, शस्त्राजीवो, भूतरक्षणं च ।
वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च ।
शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलव कर्म च ।
अर्थशास्त्र-प्रथम अधिकरण पृ0 12/13

2- गृहस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमार्षैर्भिर्वैवाह्यमृतुगामित्वं देवपित्रतिथि भृत्येषु त्यागः शेष भोजनं च । प्रथम अधिकरण पृ0 13

ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित स्वाध्याय करे, अग्निहोत्र एवं स्नान करे, भिक्षाटन करे, गुरु के समीप रहे, गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र अथवा अपने समान शाखाध्यायी के निकट रहे।[1]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसी प्रकार वानप्रस्थी एवं सन्यासाश्रम से सम्बन्धित नियम एवं कर्म दिये गये हैं। वानप्रस्थी के विषय में आचार्य का कहना है कि "वह ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे, भूमि पर शयन करे, जटा मृगचर्म को धारण करे, अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करे, देव पितर एवं अभ्यागतों की सेवा करे तथा वन्यखाद्य पर निर्भर रहे"[2]

इसी प्रकार सन्यासाश्रमस्थों के विषय में भी आचार्य ने कतिपय निर्देश किया है। सन्यासी के धर्म के विषय में उनका कहना है कि "उसका धर्म

1- ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्ष्यव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रह्मचारिणिवा।

प्रथम अधिकरण पृ० 13

2- वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्या, जटाजिनधारणमग्नि होत्राभिषेकौ, देवतापित्रार्थ तिथि पूजा, वन्यश्चाहारः।

प्रथम अधि० पृ० 13

है - "जितेन्द्रिय होना, किसी भी सांसारिक कार्य को न करे, निष्किन्चन बना रहे, एकाकी रहे, प्राण रक्षामात्रार्थ स्वल्पाहार करे, समाज में न रहे, जंगल में भी एक स्थान पर न रहे तथा मनवचन तथा कर्म से बाहर एवं भीतर से पवित्र रहे ।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वर्णाश्रम की अतीव महत्ता उपवर्णित की है । कौटिल्य स्वयं कहता है कि पवित्र आर्यमर्यादा में अवस्थित वर्णाश्रम धर्म में नियमित तथा त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा सदा सुखी रहती है ।[2]

इसी प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व यथा-विवाह, विवाह का उद्देश्य, स्त्रीदशा, उत्तराधिकार " राष्ट्रप्रेम नागरिक कर्तव्यादि का वर्णन भी आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किया गया है । जिसका प्रभाव आज भी भारतीय समाज पर देखा जा सकता है । विभिन्न सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं को विखण्डित करने में समाज अमर्यादित हो जाता है जिससे

1- परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किन्चनत्वं सङ्गत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो बाह्याभ्यन्तरं च शौचम् ।

प्रथम अधिकरण पृ0 13

2- व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति

प्रथम अधिकरण पृ0 14

अनेक प्रकार की सामाजिक विश्रृंखलताये उत्पन्न होती हैं । इसी कारण प्राचीन भारतीय मनीषियों ने विभिन्न प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी । यथा कुवाँरी कन्या से सम्भोग करके यदि कोई व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं एवं नियमों का अतिलंघन करता था तो उसके लिए हस्तकर्तनादि जैसे कठोर, दण्ड-विधान विहित थे । तथा मर जाने पर प्राणदण्ड विहित था ।[1] इसी प्रकार विभिन्न अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न दण्ड विहित थे ।

इस प्रकार, यदि हम निरपेक्ष दृष्टि से विचार करें तो एक तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को अपने पावन ग्रन्थ में स्थान दिया है, जिससे अद्यापि भारतीय जनमानस उपकृत हो रहा है ।

1- सवर्णामप्राप्तफलां कन्यां प्रकुर्वतो हस्तवधश्चतुः शतो वा दण्डः, मृतायां वधः ।

चौथाधिकरण पृ0 478

आर्थिक महत्त्व

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने अर्थ को भी एक पुरुषार्थ माना है। अर्थ के बिना सारा जगत शून्य है। महामनीषी कौटिल्य भी इसी परम्परा का निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। यद्यपि अर्थशास्त्र एक राजनीति प्रधान ग्रन्थ है जिसमें तद सम्बन्धी विविध विषय सन्निहित हैं, जिनके माध्यम से राज्योत्कर्षरूप लक्ष्य पूर्ण किया जा सकता है। तथापि अर्थ के बिना इस लक्ष्य के पूर्ण होने में बहुविध शंकाये हैं। इसी कारण कौटिल्य ने राजनीति प्रधान विषयों के अन्तर्गत अर्थ प्रधान विषयों का वर्णन करके उसकी महत्ता को प्रतिपादित किया है।

"कौटिल्य की साम्राज्य-व्यवस्था का आर्थिक ढाँचा औद्योगिक आधार भूमि पर खड़ा है। कौटिल्य की अर्थनीति के तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं। प्रथम-राज्य द्वारा संचालित उद्योग। दूसरे के अन्तर्गत निजी उद्योगों को लिया जा सकता है तथा तीसरे के अन्तर्गत निम्न सिद्धान्त हैं जिसके अनुसार समस्त उत्पादन वितरण एवं उपभोग पर शासन सत्ता का नियन्त्रण बना रहेगा"।[1]

1- गैरोलाकृत हिन्दी अनुवाद, अर्थशास्त्र भूमिका भाग, पृ0 48

गैरोला साहब ने अर्थशास्त्र के माहात्म्य के विषय में निम्नवत् कहा है -

"धर्म, दर्शन, काव्य, कला और अर्थ आदि जितने भी साहित्य के अंग हैं उनमें धर्म अर्थ-काम एवं मोक्ष, इस वर्गचतुष्टय की उपयोगिता पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है । अर्थशास्त्र चूँकि ऐहिक जीवन से सम्बद्ध क्रिया व्यापारों की ही विवेचना प्रस्तुत करता है, अतः उसमें मोक्ष को छोड़ कर त्रिवर्ग के सम्बन्ध में ही स्पष्टरूप से प्रकाश डाला गया है । धर्म, अर्थ एवं काम- इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए कौटिल्य ने यह स्वीकार किया है कि उसमें अर्थ की ही प्रमुखता है । शेष दोनों धर्म तथा काम अर्थ पर ही निर्भर है । इसी लिए त्रिवर्ग की समुचित उन्नति के लिए अर्थ की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है" ।[1] इसी प्रकार राष्ट्रोन्नति के लिए भी अर्थ की महत्ता के सम्बन्ध में कहा जासकता है कि राष्ट्र की समुचित उन्नति, एवं सुरक्षा के लिए जितने भी उपाय बताये गये हैं उनमें कोष का प्रमुख स्थान है । इसी लिए कोष-विभाग के कर्मचारियों से लेकर कोषकी सुरक्षा, उसकी वृद्धि के उपाय, उसके आ. ये के साधन एवं क्षय के कारणों पर कौटिल्य ने विस्तार से प्रकाश डाला है ।

1- गैरोलाकृत अर्थशास्त्र का हिन्दी अनुवाद, भूमिका भाग पृष्ठ संख्या 49

अर्थशास्त्र का आर्थिक माहात्म्य का निदर्शन इसी तथ्य से हो जाता है कि विभिन्न नामान्तरों वाले अनेक अधिकारी उसी रूप में भारतीय प्रशासन में अपना स्थान आज भी बनाये हुए हैं। अर्थशास्त्र में अर्थ-विभाग के सबसे बड़े अधिकारी को समाहर्ता कहा गया है। इसके अतिरिक्त सन्निधाता, स्थानिक, गोप, प्रदेष्टा, अक्ष पटलाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, अर्थकारणिक, कार्मिक गाणनिक्य मांड्या आदि का वर्णन भी अर्थशास्त्र में मिलता है। ये सभी अधिकारिनाम किन्चिद अन्तर के साथ आज भी अपना स्थान बनाये हुए हैं। इससे अर्थशास्त्र के आर्थिक महत्त्व का निदर्शन हो जाता है।

इतना ही नहीं अपितु अर्थशास्त्र में आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित तमाम ऐसे विषय बिखरे हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव वर्तमान राजनैतिक शासन व्यवस्था में राष्ट्रकोष को सुदृढ़ करने के विषय में दिखाई पड़ता है। यथा विभिन्न प्रकार के करारोपण करना। आज भी उत्पादकता से जुड़े अन्यान्य उपक्रमों से कर संग्रह के द्वारा राजकोष सुदृढ़ किया जाता है। राज्य की आर्थिक अवस्था पर ही उसकी उन्नति के सभी संसाधन निर्भर हैं। इस लिए राजकोष की पूर्ति के लिए अर्थदण्ड, नागरिकों द्वारा प्राप्त राज्यांश, कृषिकर, उपज कर। अल्किर धार्मिक कर वणिक् कर आदि का विधान था।[1]

1- वाचस्पति गैरोलाकृत अर्थशास्त्र का हिन्दी अनुवाद भूमिका (50)

आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए अर्थशास्त्र में विभिन्न करों का तो विधान किया गया है । कौटिल्य राष्ट्र के लिए दुःखदायी वस्तुओं पर अत्याधिक कर लगाने की वकालत करते हुए कहता है कि -

"जो वस्तुए राष्ट्र के लिए दुःखदायी, निरर्थक एवं मात्र शौक के लिए हों, उपर अत्यधिक कर लगाना चाहिए ।[1]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह दुष्टपुरुषों का धन उसी प्रकार ले ले जिस प्रकार वाटिका से पके फलों को ले लिया जाता है । किन्तु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे जिस प्रकार कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है । क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप कारण बनता है ।"[2]

कौटिल्य ने खजाने के अकस्मात् कम हो जाने पर कोष सन्चय करने को कहा है तथा इसके लिए प्रजा पर पुनर्करारोपण के लिए उसकी अनुमति लेना

1- अर्थशास्त्र पंचम अधिकरण, प्रकरण 90, अध्याय 2

2- पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात् आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत कोपकारकम्"

अर्थशास्त्र पंचम अधिकरण

अध्याय 2 पृ0 3।।

आवश्यक बताया है ।[1] जिसका प्रमाण "याचेत" शब्द देता है । इसी प्रकार नटों नर्तकों, गायकों एवं वेश्याओं पर भी कर लगाने की व्यवस्था थी । इनके लिए विधान था, कि ये अपनी कमाई का अर्ध भाग कर के रूप में दें ।[2]

राज्यकर एक बार लिया जाय अथवा बार-बार । इस विषय में आचार्य कौटिल्य का कहना है कि सामान्य परिस्थितियों में राज्यकार एक बार ही लेना चाहिए किन्तु यदि कतिपय कारणों पर अपेक्षित कोष न हो सके तो राजा को पुनः कोष पूर्ति करने का अधिकार है, लेकिन इसके लिए राजा अथवा समाहर्ता को किसी बहाने का आश्रय लेकर जनता से धन की याचना करनी चाहिए न कि जबरदस्ती । इस योजना में लगे लोग जनता को दिखाने के लिए अधिक से अधिक धन दें ताकि जनता भी उनसे प्रेरित होकर राजा की याचना पर अधिक से अधिक धन देने का प्रयास करे ।"[3]

1- "कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थ कृच्छ्नः संगृहीतयात् जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूत धान्यं धान्यां शस्तृतीयं चतुर्थं याचेत "

अर्थशास्त्र, पंचम अधिकरण प्रकरण 90, अध्याय 2 पृ050:

2- "कुशीलवा रूपजीवाश्च वेतनार्धं दद्युः ।

अर्थ0पंचम अधिकरण, प्रकरण10, पृ0 504

3- "सकृदेव न द्विप्रयोजनः।तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत । योगपुरुषाश्चात्र पूर्वमतिमात्रं दद्युः । एतेन प्रदेशेन राजा पौरजान पदान् भिक्षेत ।" अर्थशा0-पंचअधिकरण, प्रकरण 90अध्याय 2, पृ0505

"अर्थशास्त्र कोषागार कैसा होना चाहिए इसके विषय में भी निर्देश देता है तथा कोषाध्यक्ष के अधिकार एवं कर्तव्य का भी निर्देश देता है ।[1]

इसके अतिरिक्त विभिन्न करों का भी उल्लेख किया गया है जिसे समाहर्ता नामक अधिकारी वसूल करवाता है । इन करों को संक्षेप में दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज तथा वणिक्पथ नाम से जाना जाता है ।[2]

आचार्य कौटिल्य को कोषवृद्धि की कितनी अधिक चिन्ता थी कि उन्हें यहाँ तक कहनापड़ा कि सारे कार्य कोष पर निर्भर हैं । इसलिए राजा को चाहिए को कि वह सबसे पहले कोष पर ध्यान दे ।"[3]

इस प्रकार यदि अर्थशास्त्र में वर्णित विभिन्न अर्थप्रधान अध्यायों का सम्यक् विवेचन किया जाय तो एक तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ का राष्ट्र समृद्धि में तात्कालिक महत्त्व तो था ही, किन्तु यदि इसका आज भी

1- द्वितीय अधिकरण, प्रकरण 21, अध्याय 5

2- समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत ।

अर्थशा0, द्वितीय अधिकरण प्रकरण 22, अध्याय-6
पृष्ठ-119

3- "कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः । तस्मात पूर्वं कोषमवेक्षेत "

अर्थशा0-द्वितीय अधिकरण, प्रकरण अध्याय 8

सम्यगानुशीलन एवं तदनुरूप आचरण किया जाय तो भारतीय राष्ट्र की समृद्धि में इसकी उपादेयता को कथमपि अस्वीकृत नहीं किया जा सकता । करापवंन्चन आज भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या है । विभिन्न विषयों से संग्रहीत किये जाने वाले करों का समाहरण उपयुक्त एवं युक्तिपूर्ण ढंग से नहीं हो रहा जिससे कभी-कभी कोष की स्थिति शोचनीय हो जाती है । सरकार को योजनाओं और विकास के लिये विदेशी ऋण पर निर्भर रहना पड़ता है । ऐसी स्थिति में कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अधिक प्रासंगिक हो जाता है । करसंग्रह एवं करापवन्चकों के लिये दण्डव्यवस्था के लिये अर्थशास्त्र की पंक्तियाँ प्रकाशरश्मि बनकर आलोक दे सकती हैं, इसमें संशयलेश नहीं है ।

4- राजनैतिक महत्त्व

यद्यपि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने धर्म दर्शन अध्यात्म, विज्ञान आदि के विकास पर विशेष ध्यान दिया था, तथापि मानव के भौतिक सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं अनुशासित करने वाले विषयों की उपेक्षा नहीं की थी । मानव की व्यक्ति एवं सामूहिक दोनों उन्नतियों की तरफ आपने विशेष ध्यान दिया था । चूँकि राज्य एक आवश्यक एवं अनिवार्य संस्था है, इसलिए इससे सम्बन्धित प्राचीन अवधारणा का निरन्तर, विकास होता गया । आचार्य कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र तो राजनीति विषयक विषयों की साक्षात निधि है जिसमे प्राचीन

एवं वर्तमान कालिक-उभय- मनीषीगण राजनीति की शिक्षा लेते रहते हैं तथा स्वकीय राजनैतिक सिद्धान्तों को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। इससे अर्थशास्त्र की राजनैतिक महत्ता सुविदित हो जाती है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने अर्थशास्त्र के विषय में निम्नवत् लिखा है -

"राजनीति शास्त्र के ग्रन्थों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का।[1]

अर्थशास्त्र ने स्वयं में विभिन्न राजनीति प्रधान विषयों को स्वयं में लपेट कर तात्कालिक एवं परकालिक राजनीति का बहुत बड़ा उपकार किया है। यद्यपि कौटिल्य ने भी अपने पूर्ववर्ती राजनीति शास्त्रियों के मन्तव्यों को ही स्वीकार किया है, किन्तु कहीं-इस महामनीषी ने स्वकीय नवीन विचारों द्वारा भी भारतीय राजनीति को प्रभावित करने का प्रयास किया है।

कौटिल्य भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति राज्य को सप्तांग संयुक्त या सप्तप्रकृतियुक्त मानते हैं जो कि स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग कोष, (सेना) तथा मित्रादि को माना है।

1- ईश्वरीप्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्माकृत "प्राचीन भारतीयसंस्कृति का एवं दर्शन पृ० 369

2- स्वाम्यमात्य जनपद दुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।

अर्थशा० छठाँ अधिकरण, प्रकरण 96 अध्याय(1)

स्वामी {राजा} के गुण के विषय में बताते हुए कौटिल्य का कहना है कि उसे महाकुलीन देवबुद्धि, धैर्यसम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्य प्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्चाभिलाषी, सामन्तों को वश में करने वाला, दृढ बुद्धि, गुणसम्पन्न सम्पन्न परिवार वाला, एवं शास्त्रबुद्धि वाला होना चाहिए । ये भी राजा के आभिगामिक गुण बताये गये हैं ।[1]

इसी प्रकार राजा के प्रज्ञागुणों के विषय में बताते हुए कौटिल्य कहता है कि उसमें शुश्रूषा श्रवण ग्रहण धारण विज्ञान तर्कवितर्क, आदि भी होना चाहिए।[2]

तथा राजा के उत्साह गुण के विषय में बताते हुए कहा गया है कि उसमें शौर्य अमर्ष शीघ्रता तथा दक्षतादि उत्साह गुण में का होना अत्यावश्यक है ।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजानुरंजन एवं उसका कल्याण कर सकेगा । यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

1- तत्र स्वामि सम्पत्-महाकुलीनो, देवबुद्धिसत्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः ------------------------इत्याभिगामिका गुणाः ।

अर्थशा0-षष्ठ अधिकरण प्रकरण 96 अध्याय ।

2- अर्थशास्त्र वही -

3- अर्थशास्त्र वही -

भारतीय राजनेतागण इन गुणों से संपृक्त हो जाते तो उनका प्रधान लक्ष्य प्रजानां तु हितं प्रियं" अवश्य हो जाता ।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र अमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड एवं मित्र का भी समुचित वर्णन करता है जिसकी उपादेयता को अद्यापि कथमपि अस्वीकृत नहीं किया जा सकता ।

साहित्यिक महत्त्व

जहाँ तक अर्थशास्त्र की साहित्यिक महत्ता का प्रश्न है ? उसके विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि यद्यपि अर्थशास्त्र का प्रधान लक्ष्य राजनीति प्रधान विषयों का वर्णन करना है तथापि यदपि निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में परवर्ती साहित्य शास्त्र एवं साहित्यशास्त्रियों का बहुविध उपकार किया है । यह उपकार द्विविध है -

प्रथम तो इसने बहुत से ग्रन्थों के लिए उपजीव्य का कार्य किया गया है । तात्पर्य यह है कि अनेक कवियों एवं लेखकों ने अर्थशास्त्र विषय चुनकर अपनी कल्पनाओं को स्वकीय लेखनी का विषय बनाया है । संस्कृत वाङ्मय में कवियों की कृतियों पर अर्थशास्त्र का व्यापक प्रभाव है जिससे उसकी सार्वभौम मान्यता का सहज ही पता चलता है ।

ई0 पू0 प्रथम शती में विद्यमान संस्कृत के सुर्पारचित कवि कालिदास से लेकर याज्ञवल्क्य वात्सायन, विष्णुशर्मा, विशाखदत्त तथा बाण प्रभृति महाकवियों, स्मृतिकारों, एवं नाटककारों की 7वीं शती तक रची गई कृतियाँ निस्सन्देह अर्थशास्त्र से प्रभावित हैं। वैसे भी अर्थशास्त्र से विषय लेकर अनेक कृतियाँ रची गई हैं।

"महाकवि कालिदास के रघुवंश, कुमार सम्भव एवं शाकुन्तल अत्यधिक रूप से अर्थशास्त्र से प्रभावित हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति वात्सायन कृत कामशास्त्र, आदि ग्रन्थ साक्षात् अर्थशास्त्र से प्रभावित है"[1]

विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस एक तरह से कौटिल्य की आंशिक जीवनी है जिससे अर्थशास्त्र के साहित्यक महत्त्व को कथमपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कादम्बरी कथा के निर्माता महाकवि बाण ने भी अर्थशास्त्र की चर्चा करते हुए कहा है कि उन लोगों के लिए क्या कहा जाय जो अति नृशंस कार्य को उचित बताने वाले कौटिल्य के शास्त्र को प्रमाण मानते हैं"[2]

1- गैरोलाकृत अर्थशास्त्र का हिन्दी अनुवाद भूमिका पृ0 64

2- किं वा तेषां साम्प्रतं येषामति नृशंसप्रायोपदेशं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्"।

कादम्बरी।

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र का कितना व्यापक प्रभाव था कि प्रसिद्ध काव्यशास्त्री दण्डी तक को कहना पड़ा कि विष्णुगुप्त निर्मित अर्थशास्त्र का अध्ययन करो ।[1]

इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न शब्दों की परिभाषा बताकर आचार्य कौटिल्य ने साहित्य जगत् का अत्यधिक उपकार किया है ।[2] इसमें अधिकरण विधान, योग पदार्थ हेत्वर्थ, उद्देश्य, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति संशय, प्रसंग, विपर्यय, वाक्यशेष अनुमत व्याख्यान निर्वचन एकान्त अनागतवेक्षण अतिक्रान्तवेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय तथा उह्य प्रभृति 32 शब्दों का लक्षण बताकर आचार्य ने साहित्य जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया है जिससे अर्थशास्त्र की महत्ता में चार चाँद लग जाते हैं ।

1- अधीष्वतावद्दण्डनीतिम् । तदिदमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्त्रे संक्षिप्ता । सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमान यथोक्त कार्यमेति

- दण्डी

2- 15 वाँ अधिकरण । अध्याय ।

ऐतिहासिक महत्त्व

अर्थशास्त्र एक ऐसा विपुल ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न ऐतिहासिक तथ्य बिखरे हैं जिनको समेट कर, तथा उन्हें एक सुसम्बद्ध रूप देकर भारत की तात्कालिक ऐतिहासिक दशा का विशद ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

अर्थशास्त्र में तत्कालीन संघ राज्यों के वृत्तान्त के लिए स्वतन्त्र अधिकरण की रचना की गई है । इससे हमें उनके सुदृढ़ संघटन एवं साम्राज्य के प्रति उनकी रीति नीति का अच्छा परिचय मिलता है -

कौटिल्य दो प्रकार के संघ राज्यों का वर्णन करता है । प्रथम-राजा की उपाधि धारण करने वाले, द्वितीय राजा की उपाधि न धारण करने वाले । इन दोनों की उपयोगिता के बारे में चाणक्य ने निम्नवत् कहा है ।

"दण्ड लाभ एवं मित्र लाभ-दोनों की अपेक्षा संघ लाभ उत्तम होता है क्योंकि- संघटित होने के कारण संघराज्यों को बलवान से बलवान शत्रु भी दबा नहीं सकता है ।"[1]

1- अर्थशा0- 11वां अधिकरण । प्रथम अध्याय

राजा की उपाधि धारण करने वाले जिन संघ राज्यों का उल्लेख आचार्य ने किया है उनमें लिच्छवि, वृजिक, मल्लक, मद्रक कुकुर, कुरु तथा पांचाल।[1]

विना "राजा" की उपाधि वाले संघराज्यों को कौटिल्य ने कि काम्भोज, सुराष्ट्र क्षत्रिय आदि बताया है[2]। इनके विषय में आचार्य का कहना है कि इस श्रेणी वाले श्रम-व्यापार एवं कृषि द्वारा जीविकोपार्जन करते थे ।[3]

इसके अतिरिक्त में तात्कालिक राज्य, उसकी प्रकृति शासन व्यवस्था दण्ड व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, कोश-व्यवस्था दुर्ग निर्माण,जनपद,प्रजा एवं राजा के बीच के सम्बन्ध, कर-निर्धारण इत्यादि ऐतिहासिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है । गुप्तचरों एवं अमात्यों की नियुक्ति विषयक योग्यता का वर्णन करके कौटिल्य ने तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति पर तो प्रकाश डाला ही है । परवर्ती काल में घटित होने वाले इतिहास को भी एक सार्थक दिशा देने का प्रयास किया है ।

इस प्रकार अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक महत्त्व को कथमपि न्यून करके नही आंका जा सकता ।

1- "लिच्छविक वृजिकमल्लकमद्रक कुकुरपान्चालादयः राजशब्दोपजीविनः"

-11वां अधिकरण,प्रथम अध्याय

2- काम्बोज सुराष्ट्र क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः ।

-11 वां अधिकरण । प्रथम अध्याय ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि अर्थशास्त्र प्रधान रूप से राजनीति प्रधान शास्त्र तथापि इसमें इतनी विविध विषयविषयक ज्ञान बिन्दु पड़े हैं जिनके अध्ययन से तदितर विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है ।

वस्तुतः अर्थशास्त्र में उन सभी विषयों का समावेश किया गया है । जिनका वर्णन कौटिल्य के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है ।[1] इस तथ्य को चाणक्य ने स्वयं कहा है । 15वें अधिकरण की समाप्ति पर स्वयं आचार्य चाणक्य ने इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए निम्नवत् लिखा है । -

एवंशास्त्रमिदं युक्तमेताभिस्तन्त्रयुक्तिभिः
अवाप्तौ पालने चोक्तं लोकस्यास्यपरस्य च

धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्तयति याति च ।
अधर्मानर्थ विद्वेषानिदं शास्त्रनिहन्ति च ।।[2]

1- पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ।

2- अर्थशास्त्र - 15वां अधिकरण अध्याय- ।

अर्थशास्त्र का रचना काल

"अर्थशास्त्र" कौटिल्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ है जिसमें उपयुक्त हेतु सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिकविचारों ने आधुनिक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों को चकित कर दिया है । अर्थशास्त्र की रचना और रचनाकार के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं हैं । इस सम्बन्ध में जाली का मत है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक धोखा देने वाली चीज है, जिसे कि सम्भवत: तीसरी शताब्दी ईसवी में तैयार किया गया था । अर्थशास्त्र का रचनाकार कोई मन्त्री नहीं था वरन् एक सिद्धान्तशास्त्री था । कौटिल्य नाम झूठा है क्योंकि परम्परा गत स्रोतों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता । मेगस्थनीज ने कहीं भी उनके नाम का उल्लेख नहीं किया है । इसी प्रकार पतन्जलि ने अपने "महाभाष्य" में कहीं भी कौटिल्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जब कि चन्द्रगुप्त एवं अन्य मौर्यों का उल्लेख किया है । मिस्टर जाली के अतिरिक्त डॉ0आर0भण्डारकर, ए0बी0कीथ, विण्टरनित्ज आदि विद्वानों का मत है । कि यह पुस्तक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के व्याप्ति के पश्चात् ईसाई युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखी गयी ।

जाली, कीथ एवं विंटरनित्ज कौटिल्य के अर्थशास्त्र को मौर्यमन्त्री की कृति नहीं मानते हैं । यह कथन कि उस व्यक्ति के लिए, जो आदि से अन्त तक एक वृहद साम्राज्य के निर्माण में लगा रहा, इस पुस्तक का लिखना सम्भव नहीं थ

बिल्कुल निराधार है । पूँछा जा सकता है कि सायण एवं माधव को कैसे इतना समय मिला कि वे विपत्तियों से घिरे रहकर भी वृहद ग्रन्थों का निर्माण कर सके ?

परन्तु डॉ० रामाशास्त्री, गनपति शास्त्री, एन० एन० लाल मिश्र, तथा जायसवाल आदि विद्वान उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं । उनका मत है कि अर्थशास्त्र का रचना-काल चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल ही है । अर्थशास्त्र वहीग्रन्थ है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ प्रदर्शन के लिए की थी ।

डॉ० श्यामलाल पाण्डेय का कथन है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्य काल की रचना हो, चाहे उसके पश्चात् किसी समय का नवीन संस्करण हो, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इस अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है, मौर्यकालीन ही है ।"

अर्थशास्त्र-राजनीति शास्त्र की रचना -

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ का नाम राजनीति शास्त्र न रखकर "अर्थशास्त्र" क्यों रखा ? कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे दण्ड का विवेचन कर रहे हैं ।

दण्डनीति शब्द प्राचीन काल से भारत में राजनीति से सम्बन्धित विद्या के लिए प्रयुक्त हुआ है । शुक्र ने राजनीति विद्या को दण्ड नीति की संज्ञा दी है । कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ का नामकरण का स्पष्टीकरण किया है, उनका कहना है कि - " मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं । मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है ।"

द्वितीय अध्याय

भारतीय संस्कृत वाङ्मय विवाह की अवधारणा

1- प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय में विवाह की अवधारणा -

भारतीय संस्कृत-वाङ्मय में विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्ता प्रदान की गयी है । विवाह सम्बन्धी बहुत से शब्द विवाह संस्कार के तत्वों की ओर संकेत करते हैं, यथा उद्वाह (कन्या को उसके पितृगृह से उच्चता के साथ ले जाना) विवाह (विशिष्ट ढंग से कन्या को ले जाना) परिणय या परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना) उपयम (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना) एवं पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना) । यद्यपि ये शब्द विवाह-संस्कार का केवल एक-एक तत्व बताते हैं, किन्तु शास्त्रों ने इन सबका बहुधा प्रयोग किया है और विवाह संस्कार के उत्सव के कतिपय कर्मों को इनमें समेट लिया है । तैत्तिरीय संहिता[1] एवं ऐतरेय ब्राह्मण[2] में "विवाह" शब्द उल्लिखित है ताण्ड्य महाब्राह्मण में कहा गया है कि "स्वर्ग और पृथ्वी में पहले एकता थी, किन्तु वे पृथक-पृथक हो गये, तब उन्होंने कहा-"आओ हम लोग विवाह कर लें, हम लोगों में सहयोग उत्पन्न हो जाय ।"[3]

जहाँ तक प्राचीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित वाङ्मय का प्रश्न है उनमें ऋग्वेद सर्वोत्कृष्ट है - महामहिमाशाली ऋषियों द्वारा दृष्ट तथा ब्रह्म के

1- तैत्तिरीय संहिता (7/8/87)

2- एतरेय ब्राह्मण (27/5)

3- इमो वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावब्रूतां विवाहं विवहावहै सह नावस्त्विति।
(ताण्ड्य० (7/10/1))

निःश्वास-भूत ऋग्वेद भारतीय मनीषा के सामाजिक जीवन में प्रति सचेष्ट प्रतीत होता है । यही कारण है कि ऋषियों ने मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को भी महत्त्व प्रदान किया तथा उनकी पूर्ति हेतु धर्ममय जीवन की कल्पना की । ऐसी स्थिति में मानव जीवन को संयमित बनाकर उसे सत्मार्ग पर प्रेरित करने के लिए ऐसे विधानों की आवश्यकता थी जिसके द्वारा मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त करता । विवाह उन्हीं धर्म विधानों में से एक है जिसकी परिकल्पना करके ऋषियों ने मानव को अपने लक्ष्य के प्रति सचेष्ट किया ।

ऋग्वेद के अध्ययन से भारतीय मनीषा के वैवाहिक अवधारणा का स्पष्ट निदर्शन प्राप्त होता है । यद्यपि ऋग्वेद में धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि यदि उसमें निहित अन्तस्तत्वों का तात्त्विक चिन्तन किया जाय तो उपर्युक्त धारणा निर्भ्रान्त हो जाती है । अतः यह कहना अत्यधिक समीचीन है कि वैदिक ऋषिगण स्वकीय दृष्टि में उक्त लक्ष्यों को भी धारण किये हुए थे । जहाँ तक वैवाहिक उद्देश्य का प्रश्न है उसमें ऋग्वेद स्पष्ट उद्घोष करता है कि विवाह का उद्देश्य यज्ञ, तथा सन्तानोत्पत्ति है ।[1]

1- ऋग्वेद -

10/85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4 ।

यद्यपि ऋग्वैदिक मनीषियों ने यज्ञ तथा सन्तानोत्पत्ति को ही मुख्यरूप से विवाह का उद्देश्य बताया है तथापि उक्त दोनों उद्देश्यों में ही उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि की झलक मिलती है। यज्ञों का सम्बन्ध मानव की स्वार्थपूर्ति एवं देवी प्रसन्नता से है। जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव जीवन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणि-मात्र का मंगल होता है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा व्यक्ति स्वकीय "काम" नामक पुरुषार्थ को तो प्राप्त ही करता है साथ ही साथ उसका सामाजीकरण भी होता है, जिससे परम्परया मात्र उस व्यक्ति का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज का हित साधन होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में विवाह का उद्देश्य अत्यधिक पावन महान एवं व्यापक था।

ऋग्वेद की ही भाँति सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय वैवाहिक महत्ता का सर्वत्र गुणगान करते हैं। वैदिक काल के पश्चात् भी परवर्ती काल में भारतीय मनीषियों ने उसके उद्देश्य एवं महत्ता पर प्रकाश डाला है। वैदिक एवं परवर्ती काल में वैवाहिक अवधारणा पर विचार करने के लिए निम्न बिन्दुओं पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है -

1- वर एवं कन्या के गुण ।

2- विवाह की आयु ।

3- सगोत्र, सपिण्डादि विषयक विचार ।

4- वर्ण एवं विवाह ।

5- स्वयंवर ।

6- विधवा विवाह ।

7- विवाह विच्छेद ।

8- बहुविवाह ।

9- दहेज ।

10- पति-पत्नी सम्बन्ध - दाम्पत्य जीवन

प्राचीन भारतीय मनीषिगण मानव जीवन को सुखमय बनाने के वाले वैवाहिक विधान के प्रति इतने सचेष्ट थे कि उन्होंने उसके प्रत्येक अंग पर विधिवत विचार किया है । चूँकि विवाह को धर्म, प्रथा, एवं रतिरूप त्रिविध लक्ष्यों को प्राप्त कराने वाला माना गया है । अतः इसके लिए वर एवं कन्या के विषय में अच्छे-अच्छे गुणों की परिकल्पना की गई ।

1- वर एवं कन्या के गुण -

अच्छा वर किसे कहा जा सकता है ? उसके क्या लक्षण हैं ?, किसे वर के रूप में चुनना चाहिए ? इत्यादि प्रश्नों के विषय में विभिन्न धर्मशास्त्रों ने अपने-अपने विचारों से भारतीयों का पथप्रदर्शन किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र कहता है कि ऐसे वर को कन्या प्रदान की जानी चाहिए जो बुद्धिमान हो।[1] आपस्तम्बगृह्य सूत्र का मन्तव्य है कि वर को अच्छे,कुल, सच्चरित्रसम्पन्न, शुभगुण सम्पन्न,ज्ञान एवं सुन्दर स्वास्थ्य से सम्पन्न होना चाहिए।[2] इसी प्रकार बौधायन धर्मसूत्र, स्मृतिचन्द्रिका, आदि ग्रन्थ में भी वरों के विभिन्नगुणों का उल्लेख किया गया है। यम ने अपने महान ग्रन्थ में वर के सप्तगुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुल, शील, वपु, यश ,विद्या धन एवं सनाथत्व आदि आवश्यक गुण हैं।[3]

जाति, विद्या, युवावस्था तथा स्वास्थ्यादि अष्टगुणों को

1- आश्वलायनगृह्यसूत्र - 1/5/2

2- आपस्तम्ब गृह्य सूत्र- 3/20

3- कुलं च शीलं च वपुर्यशश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान् गुणान् सप्तपरीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्।
-यम की स्मृतिचन्द्रिका 1, पृ0 78

वृहत्पराशर ने वर के लिए आवश्यक माना है[1] इसी परम्परा में महामनीषी मनु ने वर के कतिपय गुणों का निषेधरूप में वर्णन किया है । मनु के अनुसार संस्कार विहीन, पुत्रोत्पत्यक्षम, वेदाध्ययनहीन, आदि दोषों से संपृक्त कुलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना असमीचीन है । मनु ने स्वकीय ग्रन्थ में वर के अन्य गुणों का भी उल्लेख किया है[2] कात्यायन ने वर के दोषो का उल्लेख किया है कि - पागलपन, पाप कुण्ठता, नपुंसकता, स्वगोत्रता आदि ।[3] दोषों के होने पर अन्यथा योग्य वर भी त्याज्य है ।

1- वृहत्पराशर -

2- मनुस्मृति - 4/224

5/617

2/238

5/63-65

3- उन्मत्तः पतितः कुण्ठी तथा षण्ठः स्वगोत्रजः ।

चक्षुः श्रोत्रविहीनश्च तथापस्मार दूषिताः ।

यद्यपि मनु तथा याज्ञवल्क्य ने नपुंसकों को विवाह के अयोग्य माना है । किन्तु ऐसे लोगों द्वारा भी विवाह के उल्लेख मिलते हैं । इतनाही नहीं अपितु मनु याज्ञवल्क्यादि ने इनको स्वयं अयोग्य मानते हुए भी न्यायानुकूल माना है तथा इनके नियोग से उत्पन्न पुत्रों को और सपुत्रों के समान ही धन सम्पत्ति का अधिकारी माना है ।[1] महाभारतकार महाकवि व्यास ने वैवाहिक सम्बन्ध को समान गुण से युक्त कुलों के मध्य स्थापित करने का विशिष्ट निर्देश दिया है जो कि आदि पर्व में आये उस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है जिसमें कहा गया है कि दोनों कुलों को बराबर धन, बराबर विद्या एवं बराबर शक्तिसम्पन्न होना चाहिए ।[2]

इस प्रकार विभिन्न धर्मशास्त्रकारों ने वर के विषय में अनेक सद्गुणों की कल्पना करके उनके जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास किया ।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने वर के गुणों की भाँति ही कन्या में विभिन्न सद्गुणों का होना आवश्यक माना है । वैदिक साहित्य से लेकर सम्पूर्ण लौकिक साहित्य न्यूनाधिक्य रूप में कन्या के गुणों के व्यापित किया है । यथा-

---

1- मनु - 9/203

याज्ञवल्क्य 2/141-142

2- महाभारत आदिपूर्व - 131/10

महाभारत उद्योगपर्व -33/117

शतपथ ब्राह्मण कहता है कि -बड़े एवं चौड़े नितम्बों वाली तथा कटिप्रदेश वाली कन्याओं में आकृष्ट करने का गुण विद्यमान रहता है ।[1] इसी प्रकार आश्वलायन गृहसूत्र कहता है कि व्यक्ति को बुद्धिमती, सुन्दर, सच्चरित्र, स्वस्थ तथा शुभलक्षणों वाली कन्या से ही विवाह करना चाहिए ।[2] इसी परम्परा का निर्वहन करते हुए मनु, याज्ञवल्क्य, प्रभृति धर्मशास्त्रों ने कन्या को शुभलक्षणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है । कन्या के उक्त गुणों को बाह्य तथा आभ्यन्तर-इन द्विविध वर्गों में धर्मशास्त्रकारों ने बाँटने का प्रयास किया है । बाह्य शुभलक्षणों में कन्या की शारीरिक बनावट पर ध्यान दिया जाता है तथा आभ्यन्तर लक्षणों को उसके सद्गुणों से सम्बद्ध मानना चाहिए । विष्णुधर्म सूत्र में कहा गया है कि -"पिंगल बालों वाली, अतिरिक्त अंगों वाली, टूटे फूटे अंगों वाली, तथा बातूनी कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए । इसी के साथ यह भी कहा गया है कि निर्दोष अंगों वाली हंसगतिवाली, गजगामिनी, लघुदांतों वाली तथा शोभन अंगों वाली कन्याओं से विवाह करने का निर्देश मिलता है ।[3] विष्णु पुराणकार कन्याओं के अन्य गुणों का भी उल्लेख करते हैं- यथा- कन्या के अधर या चिबुक पर बल नहीं होना चाहिए, उसकी वाणी में काक की तरह कर्कशत्व नहीं होना चाहिए, हमने

1- शतपथ ब्राह्मण - 1/2/5/16

2- आश्वलाय गृ0सू0 - 1/5/3

3- विष्णुधर्म सूत्र- {24/12-16}

पर उसके गालों में गड्ढे नहीं पड़ना चाहिए ।[1]

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रकारों ने निम्नाधिक्य वैभिन्य के साथ एक से ही गुणों का कन्या में विद्यमान होना आवश्यक माना है । भरद्वाज गृहसूत्र में स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि कन्या से विवाह करते समय मात्र चार बातें देखनी चाहिए यथा- धन, सौन्दर्य, बुद्धि और कुल ।

विवाह की आयु -

जहाँ तक विवाह की आयु का प्रश्न है उसके विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि सभी कालों में, भिन्न-भिन्न जातियों में तथा विभिन्न प्रदेशों में वैवाहिक अवस्था पर विभिन्न दृष्टिकोण दृष्टिगत होते हैं । ऋग्वेद विवाह अवस्था के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता किन्तु यदि इस पावन ग्रन्थ का सम्यक् अनुशीलन किया जाय तो पता चलता है कि इस काल में कन्यायें अपेक्षा कृत वयस्क होने पर ही विवाहित होती थी । ऋग्वेद के दशवें मण्डल के एक मन्त्र में ऋषि कहता है कि -जब कन्या सुन्दर है, तथा आभूषित है तो वह स्वयं पुरुष समूह से अपना मित्र व (पति) ढूढ़ लेती है ।[2] इससे स्पष्ट है कि

1- विष्णुपुराण - (3/10/18-22)

2- ऋग्वेद- कियती योषामर्यतो वधूयोः,
परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रावधूर्भवतियत् सुपेशाः
स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ।
ऋग्वेद-10/27/12

ऋग्वैदिक काल में लड़कियाँ इतनी प्रौढ़ होने पर विवाह करती थीं ज उनमें स्वयं पति चयन की क्षमता आ जाती है । इसी प्रकार ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से यह भाषित होता है कि कन्याओं का विवाह युवावस्था प्राप्त होने पर ही होता था । यद्यपि ऋग्वेद में आये एक मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र ने वृद्ध कक्षीवान् को वृचया नामक एक स्त्री दी थी जो अभी (बच्ची) थी ।[1] किन्तु इसे अपवाद ही मानना चाहिए । सामान्य रूप से ऋग्वैदिक काल में कन्याओं का विवाह युवती होने पर ही होता था ।

जहाँ तक अन्य संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों का प्रश्न है वे वैवाहिक-आयु विषयक प्रश्न पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते । हाँ, सूत्रकाल तक आते-आते आयु के विषय में स्पष्ट निर्देश मिलने लगता है । हिरण्यकेशि गृहसूत्र में अन्य लक्षणों के साथ चुनी जाने वालीका एक लक्षण नग्निका होना बताया है[2] नग्निका के अर्थ को लेकर विभिन्न टीकाकारों में मतवैभिन्य के दर्शन होते हैं कोई ऐसी कन्या को नग्निका कहता है जिसका मासिक धर्म बिल्कुल सन्निकट है अर्थात्

1- ऋग्वेद - (1/51/13)

हिरण्यकेशी गृहसूत्र -

ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीं सगोत्राम् ।

हि0- 1/19/2

जो सम्भोग के योग्य हो ।[1] अष्टावक्र के अनुसार नग्निका वह कन्या है जिसने अभी युवावस्था की अनुभूति नहीं की है । इसी स्थल पर वे कहते हैं नग्निका वह कन्या है जो बिना परिधान के ही सुन्दर लगे । वशिष्ठ धर्म सूत्र में भी नग्निका शब्द का तात्पर्य अयुवा से है ।

वैवाहिक आयु के विषय में विभिन्न धर्मशास्त्रकारों में विरोध प्रतीत होता है, जहाँ गौतम कहते हैं कि युवती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए ऐसा न करने पर पाप लगता है । वहीं आश्वलायन गृह सूत्र, आपस्तम्ब गृह सूत्र[3] सांखायन गृह सूत्र[4] आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कन्याओं का विवाह "गृहसूत्र काल" में युवती होने पर ही किया जाता था और यह अवस्था बारहवीं शताब्दी के धर्मशास्त्र-कार के अनुसार कम से कम 14 वर्ष थी । पराशर के मत से आठ वर्ष की लड़की गौरी, नौ वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती है । पराशर ने ही कहा है कि यदि कोई बारह वर्ष के उपरान्त भी अपनी कन्या न ब्याहे तो उसके पूर्वज प्रतिमास उस कन्या का ऋतु प्रवाह पीते हैं । माता पिता तथा ज्येष्ठ भाई रजस्वला कन्या को देखने से नरक के भागी होते हैं । यदि कोई ब्राह्मण उस कन्या से (रजस्वला से) विवाह कर ले तो उससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, उसके साथ भोजन नहीं करना चाहिए

1- मातृदत्त - हिरण्यकेशिकी टीका में ।

उसके साथ भोजन नहीं करना चाहिए और वह वृषली पति हो जाता है ।[1] विवाह की अल्पवयस्कता की सीमा इस स्तर तक कम निर्धारित की गयी थी कि प्रसिद्ध धर्मकार मरीच ने कन्या का विवाह 6 वर्ष में ही कर देना सर्वश्रेष्ठ माना है । इस प्रकार विभिन्न धर्म सूत्रों के अवलोकन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि सूत्र काल में कन्याओं का पाणिग्रहण सामान्य रूप से रजस्वला होने तक अवश्य कर देने का विधान था ।

जहाँ तक वर की वैवाहिक आयु का प्रश्न है इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि पुरुष सामान्य रूप से वय प्राप्त हो जाने पर विवाह करते थे वैसे पुरुष के लिए विवाह की कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गयी थी । प्राचीन भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था एवं पुरुषार्थ- दो ऐसे तत्व थे जिनका मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्व था चूंकि उस समय ब्रह्मचर्य आश्रम में निहित कर्तव्यों का सम्यक् पालन करने के उपरान्त ही व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके काम नामक पुरुषार्थ को प्राप्त करने का अधिकार था । अत. पुरुष का विवाह सामान्य रूप से ब्रह्मचर्यावस्था के बाद

1- पराशर-{8/69}
माताचैव पिताचैव ज्येष्ठोभ्रातातथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलां ।।
यस्तां समुद्वहेतकन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः ।
असम्भाष्योह्यपांक्तेयः सविप्रो वृषली पतिः ।
पराशर-7/8-9}

ही होता था । यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम की परिसमाप्ति की अवधियों में विभिन्नतायें रही हैं । अतः गृहस्थ आश्रम में प्रवेश की अवस्था में वैभिन्य के दर्शन होते हैं । मनु ने कहा है कि 30 वर्ष का पुरुष बारह वर्षीया कन्या तथा 24 वर्ष का पुरुष 8 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इसी को आधार बनाकर विष्णुपुराणकार ने कन्या एवं वर की विवाह अवस्थाओं का अनुपात एक और तीन रखा है ।[2] अंगिरा के मत से वर एवं कन्या के आयु में 2,3,5 वर्ष का अन्तर हो सकता है । महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि वर की अवस्था 16 वर्ष की होनी चाहिए । वैवाहिक आयु (पुरुष) पर निश्चित पूर्वक कुछ कहने से पूर्व सूत्र काल में प्रचलित अष्ट विवाहों में वर्णित देव विवाह पर एक दृष्टि डाल लेना अति समीचीन प्रतीत होता है । इस विवाह में यज्ञ कर्म को सम्पादित करने वाले ऋषि को यजमान स्वकीया कन्या को दक्षिणा के रूप में प्रदान करता था । यथा- मनुस्मृति में कहा गया है कि -

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।

अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।

मनु0- 3/28

1- मनुस्मृति- 9/94

2- विष्णुपुराण -

वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम् । (3/10/16)

3- अंगिरा- (स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रमधर्म पृ0 125)

उपर्युक्त विवरण से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त ऋषि की अवस्था अत्याधिक होती रही होगी ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वर एवं कन्या के वैवाहिक आयु विषयक प्रश्न पर प्राचीन भारतीय मनीषियों में मतान्तर विद्यमान थे ।

सगोत्र, सपिण्डादि विषयक विचार -

प्राचीन भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित विवाह नामक पावन तत्त्व के विषय में कतिपय विधि एवं निषेधों का निर्देश प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय में मिलता है । जहाँ तक निषेधोंका सम्बन्ध है उनमें सगोत्र, सपिण्ड एवं सप्रवर विवाहों का निषेध परक विधान किया गया है । किन्तु इन निषेधों के अपवाद मिलते हैं जिससे इस प्रकृत विषय पर प्राचीन भारतीय मनीषियों में मतान्त मिलते हैं । अतः उक्त शब्दों का वास्तविक तात्पर्य जान लेना अतिसमीचीन है ।

जहाँ तक गोत्र के शाब्दिक अर्थ का प्रश्न है इसमें समय-समय पर परिवर्तन के दर्शन होते हैं । प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन की आधारपीठिका स्वरूप ऋग्वैदिक ऋचाओं में भी यह शब्द अनेक बार आया है । जैसे ऋग्वेद में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं -

नकिरेषां निन्दाता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषुयोधाः ।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावा उद गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ।।[1]

उक्त ऋचा में आये गोत्राणि का अर्थ गोशाला या गायों का झुण्ड किया गया है इसी अर्थ को द्योतित करने वाले अनेक मन्त्र ऋग्वेद में मिलते हैं ।[2] इतना ही नहीं अपितु ऋग्वेद में ही गोत्र शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में मिलता है जैसे दुर्ग, समूह, आदि । इस विषय में ऋग्वेद के आये निम्न मन्त्र का अवलोकन किया जा सकता है -

आविवाध्यापरिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तंरथमृतस्य तिष्ठति ।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम् ।।[3]

यहाँ पर आये गोत्र भिदम् का अर्थ दुर्ग का भेदक अथवा मानव समूह का भेदक किया जा सकता है । जैसा कि सातवलेकर ने उक्त मन्त्र का अर्थ

1- ऋग्वेद - 3/39/4

2- ऋग्वेद - 3/43/7
9/86/23
10/48/2
10/120/8

करते समय इसका अर्थ दुर्ग भेदक किया है ।[1] इतना ही नहीं अपितु इसी वेद में तो एक मन्त्र में इस शब्द का अर्थ समूह-लगाया गया है यथा दृष्टव्य है -

इहा हि त उषो अद्रि सानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति ।
व्यर्केण विभिदुर्ब्रह्मणा च सत्या नृणामभवद् देवहूतिः ।।[2]

यहाँ पर आये गोना शब्द का अर्थ समूह या झुण्ड है । इसी अर्थ का समर्थन सातवलेकर भी करते हैं ।[3]

इस प्रकार प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में गोत्र का अभिप्राय गो-समूह, गोशाला, दुर्ग, तथा समूह अर्थ में था जिससे कालान्तर में मानवसमूह तथा एक ही पूर्वपुरुष के वंशज, का अर्थ दिया जाने लगा । शब्दकल्पद्रुम के अनुसार "पूर्व-पुरुषान् यत्तत् गोत्रम्, है ।[4]

हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने सगोत्र विवाह का निषेध किया है । ऐसे विवाह को ये मनीषी अप्रशस्त मानते हैं । जैसा कि निम्न वाक्य से पता चलता है ।

सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्[5]

1- ऋग्वेद का सुबोधभाष्य- द्वितीय भाग पृष्ठ-57
2- ऋग्वेद - 6/65/5
3- ऋग्वेद का सुबोध काव्य तीसरा भाग पृ0 178
4- वि0 ध0सू0 24-9-10
5- मनु0 - 3·5

इसी प्रकार मनु ने असगोत्र, असपिण्डादि विवाहों को प्रशस्त माना है । यथा-

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणिमैथुने ।[1]

जहाँ तक ऋग्वैदिक कालमें सगोत्र विवाह के निषेध का प्रश्न है उसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता । हाँ उत्तरवैदिक काल में सगोत्र विवाह का स्पष्ट निषेध परक निर्देश मिलता है । ब्राह्मणों का अपना गोत्र होता है । वैश्यों एवं क्षत्रियों का गोत्र उनके पुरोहितों द्वारा निर्धारित होता है । शूद्रों का कोई गोत्र नहीं होता ।

यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि तत्काल में सगोत्रादि विवाह का निषेध था किन्तु कतिपय ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे सगोत्र विवाह होने का संकेत मिलता है जैसे- जातक ग्रन्थ में आया है कि कोशल नरेश प्रसेनजित की बहन का विवाह मगध सम्राट बिम्बिसार हुआ था तथा प्रसेनजित की पुत्री वाजिरा का विवाह बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु से हुआ था ।[2] इन्हीं ग्रन्थों से विदित होता है कि काशी और शिवि राजकुमारों का विवाह उनके मामा की पुत्रियों से हुआ था ।[3] बोधायन ने तो मामा की

1- मनु० - 3·5

2- जातक - 2/237 आदि

3- जातक - 1/457, 2/327, 6/486 आदि

पुत्री से विवाह करने की प्रथा का उल्लेख भी किया है ।[1] महाभारत तो ऐसा विवाहों का अनेक दृष्टांत प्रस्तुत करता है जैसे-अर्जुन ने अपने मामा की पुत्री सुभद्रा से विवाह किया था । अभिमन्यु और सहदेव भी इसी परम्परा का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं । इसी परम्परा में कृष्ण के नाम को भी गिनाया जा सकता है क्योंकि कृष्ण ने अपने मामा की पुत्री रुक्मणी से विवाह किया था ।

यद्यपि सगोत्र विवाह के कतिपय दृष्टांत अवश्य मिलते हैं लेकिन इन्हीं के आधार पर यह कहना असमीचीन लगता है कि प्राचीनकाल में सगोत्र विवाह करने का समान्य विधान था । हाँ, इन्हीं अपवाद स्वरूप दृष्टांत अवश्य स्वीकार किया जा सकता है ।

सपिण्ड -

सगोत्र विवाह की भाँति ही प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने सपिण्ड विवाह का निषेध किया है । सपिण्ड का तात्पर्य समान रक्त कणों से अथवा एक ही पिण्ड से अथवा एक ही शरीर से । सपिण्ड वे व्यक्ति हैं जिनमें समान पिण्ड हो । तात्पर्य यह कि वे एक ही शरीर के अंश हो । व्यक्तियों की सपिण्डता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों में एक ही शरीर के अंश विद्यमान हों । जैसे पुत्र का पिता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध है क्योंकि पिता के शरीर के कण उसमें विद्यमान हैं । इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह आदि से

1- बौधायन धर्मसूत्र - 1/1/19-26

उसका सपिण्ड सम्बन्ध है । पुत्र का माता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध है । क्यों उसमें माता के शरीर का अंश विद्यमान है । इस भाँति मातामह, मातुल, मातृष्वसा से उसका सपिण्ड सम्बन्ध है ।

संक्षेप में रक्त सम्बन्ध से आबद्ध सम्बन्धी सपिण्ड के अन्तर्गत आते हैं । प्राय: पिता से सात पीढ़ी और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं । विवाह निश्चित करते समय सपिण्डता का विशेष ध्यान रखा जाता था ।

जहाँ तक सपिण्ड विवाह के निषेध से सम्बन्धित प्रारम्भिक इतिहास का प्रश्न है, वैदिक साहित्य इस विषय में प्राय: मौन ही प्रतीत होते हैं । लेकिन वेद में आये दुहिता शब्द से इतना अवश्य संकेत मिलता है कि उस काल में भी कन्याका दूर देश में विवाह करने की प्रथा थी । यद्यपि ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनसे ममेरे, चचेरे, मौसेरे तथा फुफेरे भाई बहनों में विवाह हुआ करता था ।[1]

महाभारत में भी कतिपय सपिण्ड विवाह के उदाहरण मिलते हैं ।[2] जातक ग्रन्थ भी सपिण्ड विवाह के दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं तथा इन्हें निम्न दृष्टि से देखते प्रतीत नहीं होते । लेकिन धर्मसूत्र में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निर्देश किया गया है । जैसा कि सुमन्त्र के उद्धरण से स्पष्ट है -

---

1- ऋग्वेद- 7/55 परिशिष्ट-।।

2- महाभारत आदिपर्व- ।।।/।-3

पितृपत्न्यस्सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुला: तत्सुता मातुलसुतास्तस्माता नोपयन्तव्या ।

इसी प्रकार गौतम मनु आदि ने भी सपिण्ड विवाह का निषेध किया है । मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई व्यक्ति मौसी मामा या बुआ की लड़की के साथ गमन कर ले तो उसे चान्द्रायन व्रत करके प्रायश्चित करना चाहिए ।[1] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य एवं स्मृतिकारों ने भी सपिण्ड विवाह को अप्रशस्त माना है । विष्णुपुराण पिता और माता की क्रमश: 7 और 5 पीढ़ी तक विवाह न करने का निर्देश दिया है, यथा-

पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम् ।
गृहस्थश्चो द्वहेत्कन्यां नान्येन विधिना नृप ।।[2]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर सपिण्ड विवाह करने की प्रथा नहीं थी ।

प्रवर -

सगोत्र एवं सपिण्ड वैवाहिक निषेधों के भांति ही प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रियों ने प्रवर विवाह का निषेध किया है । प्रवर कुछ ऐसे संस्कारों

1- मनुस्मृति - III/171-172

2- वि० पु० - 3/10/23

एवं ज्ञान से सम्बन्धित सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है जिनसे व्यक्ति आबद्ध होता है । बौधायन धर्मसूत्र में समान प्रवर में विवाह करना गुरुतल्पारोहण सदृश्य पाप माना गया है । गोभिल धर्म सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि विवाह असमान प्रवर वालों में होना चाहिए । जिनका एक समान प्रवर होता है उन्हें आपस में विवाह नहीं करना चाहिए ।

समान एक: प्रवरो एषां तै: स न विवाह: ।[1]

इसी प्रकार नारद एवं आपस्तम्ब ने भी समान प्रवर वाले विवाह को निन्दनीय माना है । आपस्तम्ब तो ऐसे विवाह करने वाले ब्राह्मण को चाण्डाल तक कहा है ।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समान प्रवर विवाह करना तात्कालिक समाज में निन्दनीय समझा जाता था । इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज प्रचलित वैवाहिक विधि निषेधों का जो वर्णन भारतीय समाज में किया गया था, उनका न्यूनाधिक्य रूप में पालन अद्यापि भी हो रहा है ।

1- गोभिल धर्म सूत्र - 23/12

विवाह एवं वर्ण -

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है । जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक उत्तर से लेकर दक्षिण तक । वैदिक काल में कल्पना की गई कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र पर पिता परमेश्वर के विभिन्न अंगों से उत्पन्न हुए हैं । जैसा कि ऋग्वेद के दशवें मण्डल में कहा गया है कि ब्राह्मण इसके मुख से क्षत्रिय इसकी भुजाओं से वैश्य इसकी जाघों से तथा शूद्र इसके पैरों से उत्पन्न हुए ।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य. कृत: ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पदभ्यां शूद्रो अजायत: ।।[1]

वर्णोत्पत्ति की यह धारणा रामायण महाभारत प्रभृति ग्रन्थों में भी मिलते हैं । जहाँ तक विवाह एवं वर्ण के सम्बन्ध का प्रश्न है इस विषय में यह बता देना आवश्यक है कि कतिपय वर्ण ऐसे थे जिन्हें वैवाहिक विशेषाधिकार प्राप्त था । इसी प्रकार कुछ ऐसे भी वर्ण थे जिन्हें कुछ वैवाहिक विशेषाधिकारों से हीन कर दिया गया था। यथा ब्राह्मणों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था कि वे अपने वर्ण के साथ-साथ अन्य वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता था । क्षत्रिय भी अपने वर्ण के साथ-साथ

1- ऋग्वेद 10/90/12

वैश्य एवं शूद्रों की कन्याओं को परिणीत कर सकता था । उसी प्रकार वैश्य भी स्वकीय वर्ण के साथ-साथ शूद्र कन्या से विवाह कर सकता था । वहीं शूद्र ऐसा वर्ण था जो स्ववर्णीया कन्या के अतिरिक्त विवाह नहीं कर सकता था । इसी परम्परा में क्षत्रिय, एवं वैश्यों को गिनाया जा सकता है । जहाँ ब्राह्मण इन चतुर्वर्णों की कन्याओं को अपनी पत्नी बना सकता था वहीं ये अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार नहीं रखते थे ।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है कि उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्याओं से विवाह कर सकता था लेकिन निम्नवर्णीय पुरुष को इस व्यापक अधिकार से च्युत् कर दिया गया । यद्यपि यह एक सामान्य विधान था तथापि इसके अपवाद भी मिलते है । परिणाम यह हुआ कि समाज में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ ।

अनुलोम विवाह -

अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण का पुरुष तथा निम्न वर्ण की कन्या होती थी । वैदिक युग में वर्ण और जाति का कठोर बन्धन न होने के कारण इस तरह के विवाह बहुधा हुआ करते थे । शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि भृगुवंशीय ब्राह्मण ऋषि चवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था ।[1]

1- शतपथ ब्राह्मण - 4/1/5

ब्रह्मर्षि श्यावस्य ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति को अपनी भार्या बनाया था ।[1] चाक्षुष और कक्षीवान का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्रा के सम्पर्क से हुआ था । इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण प्राचीन भारतीय समाज में मिलते हैं । अनुलोम विवाह का ही परिणाम था कि ब्राह्मणों को सभी वर्णों की कन्या से परिणय करने का अधिकार था । शास्त्रों के अनुसार अनुलोम के परिणाम स्वरूप ब्राह्मण तीन, क्षत्रिय दो, वैश्य मात्र एक अतिरिक्त विवाह कर सकता था इसका समर्थन मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य की स्मृति, शंखस्मृति इत्यादि में भी आया है । जैसा कि शंखस्मृति में निम्नवत उल्लिखित है -

> तिस्त्रस्तु भार्या विप्रस्थ द्वे भार्यें क्षत्रियस्य तु ।
> एकैव भार्या वैश्यस्य तथा शूद्रस्य कीर्तिता ।।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने अनुलोम-विवाह को मान्यता प्रदान की थी वहीं यह भी ध्यानेय है कि इस विवाह से उत्पन्न सन्तान को सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान की तुलना में अल्प अधिकार प्राप्त थे ।

1- ऋग्वेद - 5/61/17-19

2- शंखस्मृति- {4/6-7}

प्रतिलोम विवाह -

प्रतिलोम विवाह को हिन्दू समाज में अत्यन्त हीन माना जाता था इसी लिए तात्कालिक समाज में इसका प्रचलन नाममात्र के लिए था । इस विवाह के अन्तर्गत उच्च वर्ण की कन्या होती थी और निम्नवर्ण का वर । इससे उत्पन्न सन्तान को वर्ण संकर निकृष्ट तथा स्पृश्य कहा जाता था । जैसा कि गोभिल धर्मसूत्र और मनुस्मृति में उल्लिखित है ।[1] यद्यपि प्रतिलोम विवाह को धर्म-शास्त्रज्ञों ने हेय माना है तथापि इसके उदाहरण वैदिक काल से लेकर परवर्ती काल में भी मिलते हैं । ऋग्वेद में ब्राह्मण कन्या अंगिरसी को क्षत्रिय नरेश भावयज्ञ की पत्नी बताया गया है ।[2] श्रीमद् भागवत में ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य की कन्या देवयानी को ययाति की पत्नी के रूप चित्रित किया गया है ।

यद्यपि पुराणादि धर्मशास्त्र प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को धर्मच्युत बताते हैं । जैसा कि वायुपुराण से निम्न कथन स्पष्ट है -

---

1- गो० धा० सू०- 4/5

1- मनु-स्मृ० - 10/11-12

2- ऋग्वेद 1/26

तस्मात्प्रजा समुच्छेदं दुर्वलीय तु यास्यति ।
असंकीर्णा च धर्मेण प्रतिलोमचरेषु च ।।[1]

तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि तात्कालिक समाज में प्रतिलोम विवाह तो होते ही थे भले ही वे निन्द्य समझे गये हों ।

स्वयंवर -

प्राचीन भारतीय समाज में स्वयंवर विवाह प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । इसमें वधू स्वयं अपने वर का चुनाव करती थी स्वयंवर विवाह को एक संस्कार माना जाय अथवा नहीं ? इसका स्पष्ट निर्देश धर्मशास्त्रों में नहीं मिलता । यद्यपि की इसी से मिलता जुलता गान्धर्व विवाह का वर्णन अवश्य किया गया है इन दोनों विवाहों में मुख्य अन्तर यह है कि स्वयंवर में केवल कन्या अपनी इच्छा से वर का चुनाव करती थी जब कि गान्धर्व विवाह में वर और कन्या दोनों अपने मन के अनुसार विवाह करते थे । स्वयंवर की प्रथा का उल्लेख निर्देश रूप में ऋग्वेद में भी मिलता है । जैसा कि निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट है -

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वृणुते जनेषु ।[2]

1- वायुपुराण - 93-43

2- ऋग्वेद - 10/27/22

उत्तर वैदिक काल आते-आते यह प्रथा समाज में काफी प्रचलित हो गयी। अब तो इस प्रकार का विवाह आयोजित करते समय अनेक प्रकार की प्रतिज्ञायें और शर्तें भी लगायी जाने लगी। जैसा कि रामायण में उल्लेख है कि राजा जनक ने सीता का स्वयंवर आयोजित करते समय शिव की धनुष तोड़ने की एक शर्त रख दी थी तथा यह घोषणा की थी कि जो भी इस धनुष को तोड़ेगा उसी को सीता अपना वर चुनेगी।[1] महाभारत काल में द्रौपदी स्वयंवर का उल्लेख मिलता है जिसमें मत्स्य का लक्ष्यभेद करने वाले को ही द्रौपदी से विवाह करने का अधिकार दिया गया था।[2] स्वयंवर के विषय में एक तथ्य जना देना अति समीचीन है कि स्वयंवर में शर्त लगाने की बात कभी तो कन्या के पिता द्वारा किया जाता था तथा कभी कन्या स्वयं शर्त लगाती थी। इतना ही नहीं कभी-कभी तो बिना किसी शर्त के ही स्वयंवर का आयोजन किया जाता था जैसा कि महाभारत में वर्णित कुन्ती स्वयंवर से स्पष्ट है। जिसमें उसने पाण्डु को अपना पति स्वीकार किया था।[3] परवर्ती साहित्य कृतियों में भी स्वयंवर विवाह के अनेक उल्लेख मिलते हैं कविता कामिनी के कान्त रघुवंशकार कालिदास ने इन्दुमती स्वयंवर का विशद वर्णन किया है।

1- रामायण - 1/66/67

2- महाभारत -

3- महाभारत- 1/112

उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्वयंवर विवाह पर्याप्त मात्रा में होते थे। आगे चलकर धर्मशास्त्रकारों ने इस बात का अनुमोदन भी कर दिया कि अगर पिता अपनी कन्या के लिए वर नहीं चुन पाता तो वह तीन ऋतुकाल बीत जाने पर अपना पति स्वयं चुन ले। जैसा कि गोभिल धर्मसूत्र में कहा गया है -

त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येत तानिन्दितेतोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान।[2]

स्वयंवर के विषय में दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में स्वयंवर सभी वर्णों के लिए विहित था। किन्तु कालान्तर में यह मात्र राजकुलों तक ही सिमटकर रह गया।

विधवा विवाह -

प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने समाज में सुव्यवस्था शान्ति एवं नारी की मर्यादा को संस्थापित करने के लिए विधवा विवाह का अनुसमर्थन किया है। ऋग्वेद तो सीधे-सीधे इस विवाह का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद के दशवें मण्डल में एक विधवा स्त्री को परामर्श दिया गया है

1- महाभारत - 1/112

2- गो० धर्म सू० - 18/20

कि वह अपने देवर को पतिरूप में वरण कर ले । यथा-

" को वां शयुया विधवेव देवरमर्थय न योषा कृणुते सधस्थ आ ।"[1]

महाभारतकार ने भी पति के अभाव में देवर को पति रूप में वरण करने की अनुमति प्रदान की है यथा द्रष्टव्य है -

नारी तु पत्याभावे देवरं कुणुतेपतिम ।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि मनु-विधवा विवाह एवं नियोग प्रथा के कटु आलोचक रहे हैं । मनु ने कहा है कि किन्हीं मन्त्रों में किसी शाखा में नियोग नहीं है और न विवाह विधि में विधवा विवाह ।[3] मनु ने इसे पशु धर्म कहा है ।[4] यदि वैदिक साहित्य का सम्यक् विवेचन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि उस काल में विधवा विवाह पर कोई रोक नहीं थी । यही कारण था कि इस काल में सती प्रथा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । लेकिन परवर्ती कालों में जब से सती प्रथा पर जोर दिया जाने लगा तब से विधवा विवाह की निन्दा भी की जाने लगी । और अब तो विधवा से नियोग का अधिकार भी छीन लिया गया ।

1- ऋग्वेद - 10/4/2

2- महाभारत - 13/12/19

3- मनुस्मृति - 9/65

4- मनुस्मृति - 9/66

रामायण नामक महाकाव्य में भी विधवा विवाह एवं सती प्रथा का साथ-साथ उल्लेख मिलता है । रावण की मृत्यु के पश्चात् उसकी पटरानी मन्दोदरी ने विभीषण की पट्टाभिमहिषी होना स्वीकार किया था । वहीं मेघनाद की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी ने सती हो जाना वरेण्य समझा था ।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि वैदिक काल तथा महाकाव्यकाल में विधवाओं के सामने तीन विकल्प मौजूद थे ।

§1§ वह पुनर्विवाह कर सकती थी ।

§2§ वह सती हो सकती थी ।

§3§ वह विधवा रूप में ही अपने पुत्रादियों पर आश्रित रहकर शेष जीवन व्यतीत कर सकती थी ।

विवाह विच्छेद -

मानव जीवन विभिन्न परिस्थितियों से नियन्त्रित होता है । कभी-कभी उसे स्वकीय हितपूर्ति के लिए ऐसे कार्यों को करना पड़ता है जिसकी समाज आलोचना भी करता है और स्तुति भी । विवाह विच्छेद भी इसी कोटि में आता है । मानव के सुखमय दाम्पत्य में कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके वशीभूत हो कर वह अपने अभिनड्•ग, अर्धांगस्वरूप पति अथवा पत्नी से

सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। संक्षेप में दाम्पत्य विच्छेद का तात्पर्य है - पति और पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध को सामाजिक धार्मिक एवं वैधानिक रूप से समाप्त कर देना, जिससे दोनों एक दूसरे से मुक्त हो जायें और उन पर किसी प्रकार का एक दूसरे का नियन्त्रण न रह जाय।

हिन्दू समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद की व्यवस्था किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही गयी थी। नष्ट, प्रव्रजित, पतित, राजकिल्विषी, लोकान्तरगत पति त्याज्य था। अथर्ववेद में भी स्त्री द्वारा अपने पति छोड़ देने का उल्लेख मिलता है।[1] जातक ग्रन्थ भी दाम्पत्य सम्बन्ध विच्छेद के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मज्झिम निकाय से विदित होता है कि एक स्त्री के निकट सम्बन्धियों ने उसका विवाह एक अन्य पुरुष से करने का निश्चय किया। क्योंकि वह अपने पति को नहीं चाहती थी।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि नारद ने स्त्री पुरुष को एक दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का विधिक अधिकार नहीं था। बौधायन ने निम्न परिस्थितियों में पुरुष द्वारा पत्नी के त्याग का उल्लेख किया है -

---

1- अथर्ववेद - 9/5/26-27

2- मज्झिम निकाय - 2 पृ0 109

अशुश्रूषाकरीं वन्ध्यां वन्धकीं परिहिंसकीम् ।
त्यजन्ति पुरुषा प्राज्ञाः क्षिप्रमप्रियवादिनीम् ।।
अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां दशमे त्यजेत् ।
प्रेतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ।।

अर्थात् सेवा न करने वाली, वन्ध्या वन्धकी, परिहिंसकी, अप्रियवादिनी पत्नी का परित्याग प्राज्ञपुरुषों को कर देना चाहिए । इसी प्रकार केवल कन्या उत्पन्न करने वाली, तथा राक्षस सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों के परित्याग का भी उल्लेख है ।[1] याज्ञवल्क्य प्रभृति स्मृतिकारों ने तो स्त्री को प्रथम व्यभिचार के कारण कतिपय दण्ड का विधान करके ही उसे परित्याग के दण्ड से वंचित कर दिया है ।[2] लेकिन हारीत ने गर्भघातिनी, शराबी, धन-क्षयकरी, तथा पतिघातिनी पत्नी के परित्याग का विधान किया गया है ।[3] विज्ञानेश्वर ने भी निम्न स्थितियों में पत्नी परित्याग का अधिकार दिया है -

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थ हन्यप्रियम्वदा ।
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ।[4]

1- बौधायनकृत कल्पतरु के व्यवहार काण्ड से उद्धृत ।

2- याज्ञ0 - 1·74

3- हारीत् - व्यव 132, 146

4- विज्ञानेश्वर याज्ञ0 - 1·73

विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों को पुरुषों के तुल्य अधिकार नहीं था । क्योंकि कतिपय धर्मशास्त्रकारों ने पति-परित्यागिनी स्त्रियों की कटु-शब्दों में भर्त्सना की है यथा मनु कहते हैं कि चाहे स्त्री का पति दुःशील परस्त्रीगामी अवगुणी, ही क्यों न हो, पत्नी को उसी पूजा देववत् करनी चाहिए यथा द्रष्टव्य है -

> विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वापरिवर्जित: ।
> उपचर्य: स्त्रिया साध्या सततं देववत् पति: ।[1]

पराशरस्मृति का निम्न श्लोक भी इस विषय में अवलोकन योग्य है ।

> दरिद्रं व्याधितं धूर्तं भर्तारं याऽवमन्यते ।
> सा शुनी जायते मृत्वा सूकरी च पुन:-पुन: ।[2]

अर्थात् पति चाहे दरिद्र हो, व्याधिग्रस्त हो, धूर्त ही क्यों न हो उसका अपमान नहीं करना चाहिए नहीं तो उनका जन्म पुन:-पुन: कुतिया तथा सुअरी के रूप में होता है ।

1- मनु - 5·154

2- पराशरस्मृति - 4·16

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दाम्पत्य विच्छेद के विषय में धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया हैं वहीं उन्होंने स्त्रियों एवं पुरुषों के तत्सम्बन्धी अधिकारों में भेदभाव भी किया है । धर्मशास्त्रकारों द्वारा निर्धारित अधिकांश स्त्रियों के विरुद्ध थे, निरकुंश थे तथा असमान थे । जिनमें स्त्री की आकांक्षाओं एवं कामनाओं को अत्यल्प स्थान था ।

बहु विवाह -

प्राचीन काल में हिन्दू परिवार में एक विवाह का विशेष महत्व था इसे हिन्दू विवाह का आदर्श स्वरूप कहा गया है जिसमें स्त्री के एक ही पति तथा पुरुष के एक ही पत्नी का महत्त्व रहा है एक पति या एक पत्नी के रहते हुए दूसरों पुरुष या स्त्री से विवाह करना निषिद्ध था आपस्तम्ब ने तो यहाँ तक कहा है कि धर्म प्रजायुक्त पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए ।[1] इसी प्रकार नारद भी मत व्यक्त करते हैं कि अनुकूल अवागदुष्ट गृहकार्यकुशल साध्वी, प्रजावती, पत्नी का त्याग करने वाले पति को कठोरदण्ड से राजा उचित मार्ग पर रखे । यथा द्रष्टव्य है -

अनुकूलामदुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम् ।
त्यजन् भार्याभवस्थाप्यो राजा दण्डेनभूयसा ।[2]

1- आपस्तम्ब धर्म0सू0 - धर्मप्रजा सम्पन्नेदारेनन्यो कुर्वीत । 2•5•12

2- नारद (स्त्रीपुं) 95

इस प्रकार स्पष्ट है कि तात्कालिक समाज में एक-विवाह सम्मान जनक स्थान था तथा सांस्कृतिक मूल्यों का यही आदर्श माना गया है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक-विवाह मात्र सामान्य विधान था जिसे समाज ने उच्च स्थान पर अभिषिक्त किया था तथापि तात्कालि साहित्य का अवलोकन करने पर हमें वहु-विवाह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं । ये बहु-विवाह विषयक दृष्टान्त उभय पक्षों से सम्बन्धित थे । जिन्हें सुविधा के लिए निम्नवत माना जा सकता है ।

1- बहुपत्नीत्व ।

2- बहुपतित्व ।

बहुपत्नी विवाह-प्रथा के अन्तर्गत पुरुष अपनी प्रथम पत्नी के अतिरिक्त द्वितीय पत्नी भी रख सकता था । यद्यपि इस विवाह की प्रथा धनिक-वर्गो एवं राजाओं में अधिक थी । राजाओं की साधारणतः चार प्रकार की पत्नियां का विवरण धर्मशास्त्रों में दिया गया है ।[1]

1- महिषी ‌‌{प्रधान रानी}

2- परिवृक्ता {प्रभावशाली}

3- वावाता {व्यक्तिगत रूप से प्रिय}

4- पालागली {सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या}

1- चतस्रोजाया उपक्लृप्ता भवन्ति,

महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली ।।

श०ब्रा०- 2·5·1·10, 13·4·1·7

बहुपत्नीत्व-प्रथा का आरम्भिक दर्शन हमे पूर्ववैदिक काल से ही होते हैं।[1] इसी प्रकार सम्पूर्ण उत्तरवैदिक काल, एवं धर्मसूत्र काल महाकाव्यकाल एवं पुराणकाल के अनन्तर भी हमें बहुपत्नीत्व के दर्शन होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक पुरुष की कई भार्यायें हो सकती हैं जबकि एक पत्नी के कई पति नहीं हो सकते हैं जैसा कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट है।

तस्मादेको बहवीर्जाया विन्दते।

तस्मादे कस्य बह्वयो जायाभवन्ति, नैकस्य बहवः सहपतयः।[2]

बौद्ध साहित्य भी बहुपत्नीत्व के दृष्टान्त से भरे पड़े हैं यथा - अंगुत्तर निकाय में एक व्यक्ति की चार पत्नियों का विवरण दिया गया है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भार्या अगर धर्म तथा सन्तान संयुक्ता है तो पुरुष को दूसरी शादी नहीं करनी चाहिए। यदि धर्म और प्रजा दोनों में से किसी का भी अभाव है तो श्रौत कर्म के पूर्व दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए। जैसा कि आपस्तम्ब के उल्लेख से स्पष्ट है -

धर्म प्रजासम्पन्ने दारनान्यां कुर्वीत्।

अन्यतराभावे कार्या प्रागान्या धेयात्।।[4]

1- ऋग्वेद - 10·145, 159

2- ऐतरेय ब्राह्मण 12/11

3- अगु: (मज्झिम निकाय) 2·4·2

4- आपस्तम्बसूत्र - 1·10·28, 19, 2·5·11-12·13

पारस्कर यह मत प्रतिपादित किया है कि ब्राह्मण तीन पत्नियाँ क्षत्रिय की दो पत्नियाँ, तथा वैश्य की एक पत्नी हो सकती है ।[1]

कतिपय धर्मसूत्रों में दूसरी पत्नी करने के पहले कुछ प्रतीक्षा करने का विधान किया है । जैसे कि बौधायन ने कहा है कि पुत्र न होने पर व्यक्ति को दस वर्ष के पश्चात् ही दूसरी पत्नी करने की अनुमति दी है ।[2]

यदि महाकाव्य कालिक इतिहास पर विचार किया जाय तो बहु-पत्नीत्व के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जैसे राजा दशरथ की कौशल्या कैकेयी और सुमित्रा नामक तीन पत्नियाँ थी ।[3] पाण्डु की कुन्ती और माद्री नामक दो भार्या थी ।[4] श्रीकृष्ण की 10000 पत्नियों का उल्लेख मिलता है ।[5] भीम के द्रौपदी के अतिरिक्त हिडिम्बा नामक पत्नी थी । दुष्यन्त की कई रानियाँ थी जैसे की अभिज्ञान शाकुन्तल से स्पष्ट है -

बहुवल्लभा: हि राजान श्रूयन्ते ।

अभि0 अंक-3

1- पारस्कर गृ0- 1/4/8-11

2- बौ0 ध0सू0 -2/2/9

3- रामायण- 2/20/38-55

4- महाभारत -111/8-9

5- महाभारत-मौसलपर्व- 5-6

षोडशास्त्री सहस्राणि वासुदेव परिग्रह: ।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुपत्नीत्व की प्रथा राजकुलों या धनिकवर्गों में अधिक प्रचलित थी । प्राचीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है कि कामलिप्सा, संततिलिप्सा शौर्यलिप्सा सामाजिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता आदि ऐसे कारक थे जिन्होंने मानव को बहुपत्नीत्व की तरफ प्रेरित किया । सामान्य जनता में तो प्राय: एक पत्नीत्व ही प्रचलित था ।

बहुपतित्व विवाह -

प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से हमें बहुपति विवाह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं । बहुपतित्व का अभिप्राय है एक स्त्री का एक ही समय में एक से अधिक पतियों का रखना । वेदों में बहुपतित्व को स्पष्ट करने वाले कतिपय उदाहरण मिलते हैं । अथर्वेद में उल्लेख मिलता है कि पंचौदन के माध्यम से पत्नी और उसके द्वितीय पति के बीच अविच्छेद्यता की आशा की गई थी । अथर्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि एक स्त्री के ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य पतियों में ब्राह्मण पति अधिक माननीय हैं ।[1] यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि वैदिक युग में एक स्त्री के एक से अधिक पति हुआ करते थे । किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों एवं संहिताओं में सामान्यत: बहुपतित्व विवाह का विरोध किया । महाभा-

---

1- अथर्वेद - 5/17/8-9

में द्रौपदी का उल्लेख है जिसके एक सेअधिक पति थे। यद्यपि कि ...पतित्व विवाह को महाभारतकार ने भी निन्दय माना है। महाभारत में ही जटिला-गोतमी के सात पतियों का उल्लेख मिलता है। वार्क्षी नामक कन्या से प्रचेता नामक दश भाइयों ने विवाह किया था।[1] विष्णु पुराण भी दश पतियों वाली मारिषा नामक स्त्री का उल्लेख किया है।[2] यथा-

> भविष्यन्ति महावीर्या एकस्मिन्नेव जन्मनि।
> प्रख्यातो दारकर्मणो भवत्या: पतयो दश।[2]

उपर्युक्त कतिपय उदाहरण ऐसे हैं जिनके आधार पर विद्वानगण बहुपतित्व को एक सामान्य प्रथा के रूप में वर्णित करने का प्रयास करते हैं। इस विषय में यह तथ्य ध्यानेय है कि प्रथमत: यह प्रथा सामान्य जनता में परि-व्याप्ति नहीं थी। तथा कुछेक जनजातियों राजाओं तथा धनिक वर्गों तक ही सीमित थी। यही कारण था कि धर्मशास्त्रकारों के मत भी सर्वथा इसके विपरीत रहे हैं। धर्मलोकाचार सच्चरित्रता और नैतिकता का हिन्दू समाज में इतना अधिक प्रभाव रहा है कि इसका कोई स्थान ही नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि एक हिन्दू स्त्री के जीवन का का आदर्श और गौरव उसके एक पतित्व में निहित था, न कि बहुपतित्व में।

1- महाभारत - 1/98/21-30

2- विष्णुपुराण - 1/15- 68

दहेज -

प्राचीन भारतीय संस्कृति में निहित विवाह का दहेज से विशिष्ट सम्बन्ध रहा है। दहेज का प्रचन कब से प्रारम्भ हुआ ? इसका स्वरूप क्या था ? तथा इसका महत्व क्या था ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने के पूर्व दहेज का तात्पर्य जान लेना आवश्यक है। देहेज का सामान्य अर्थ वर एवं वधू को विवाह के मांगलिक अवसर पर प्रदान किये जाने वाले वस्त्राभूषण एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएं। दहेज के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह निश्चित पूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रथा के प्रारम्भिक बीज पूर्व वैदिक काल में ही विद्यमान थे जो समय प्रवाह को पार करते हुए सम्प्रति दानवाकृति वटवृक्ष का रूप ले चुका है।

विवाह के अष्ट प्रकारों में ब्राह्म विवाह एक ऐसा विवाह है जिसमें कन्या को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके वर को प्रदान किया जाता था। दहेज के रूप में वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त गायों को भी दिया जाता था। ऋग्वेद में उल्लेख आया है कि सूर्या को उसके पिता को जो दहेज प्रदान किया था, वह उसके ससुराल पहुँचने से पहले पहुँच चुका था। जैसा कि निम्नमन्त्र में द्रष्टव्य है-

सूर्या या वहतुः प्रागाद् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावो ऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥[1]

1- ऋग्वेद - 10/85-13

वैदिक काल के अनन्तर महाकाव्य काल में भी इस प्रथा का उल्लेख हुआ है। सीता के विदाई के समय जनक द्वारा सीता तथा वर पक्ष को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों को प्रदान करना इस प्रथा का ही अनुसमर्थन करता है। महाभारत काल में कुन्ती द्रोपदी और सुभद्रादि की अनेक प्रकार की वस्तुएं दहेज में दी गयी थी।[1] जातक ग्रन्थ भी दहेज के उल्लेख करते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से दहेज विषयक यह तथ्य सुस्पष्ट होता है कि उस समय दहेज देने के लिए वर पक्ष द्वारा कोई विशेष दबाव नहीं डाला जाता था। यह तो कन्या के पिता के सामर्थ्य एवं इच्छा पर निर्भर करता था कि वह कितना दहेज दे। तत्काल में इसे कन्या एवं वर की गृहस्थी का आवश्यक तत्व समझा जाता था अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रथा के पीछे लोगों की सदवृत्ति एवं सादाशयता की न कि कठोरता।

पति-पत्नी सम्बन्धः दाम्पत्य जीवन-

मातृदेवों भव, पितृदेवो भवतथा आचार्य देवों भव की संकल्पना से समन्वित प्राचीन काल में, हिन्दू समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध को अत्यन्त सुखद, पावन एवं पवित्र माना गया है। ऐसी मान्यता है कि माता तथा पिता के सुमधुर सम्बन्धों एवम् पारस्परिक व्यवहारों का, उनकी सन्तानों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में अपने परिवार में सुख शान्ति की स्थापना हेतु पति-पत्नी को परस्पर अच्छे सम्बन्धों का पालन करना पड़ता था। यही

1- महाभारत - 1/113/12, 200/6, 1/74/3-5

कारण था कि उनका दाम्पत्य जीवन अत्यधिक प्रगाढ़ एवं सम्मान युक्त था । उनके सम्बन्ध व्यवहारिक धरातल पर भी इतने पवित्र एवं आदर्श मय था कि पत्नी अपने पति को सदा देवता के रूप में ही पूजती रही है ।[1] इतना ही नहीं अपितु पत्नी को भी देवी स्वरूप प्रदान करके उसे पूज्या माना गया है । मनु के अनुसार जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं, और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है -

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता: ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफला: क्रिया: ।।[2]

दोनों का सम्बन्ध इतना अन्योन्याश्रित था कि धर्मार्थकाय नामक त्रिवर्ग की सम्प्राप्ति एक दूसरे के बिना असम्भव थी । तात्पर्य यह कि त्रिवर्ग की प्राप्ति पति पत्नी दोनों पर अवलम्बित थी ।[3]

1- स्मृति, व्यवहार, पृष्ठ- 25 ।
पराशरमाधवीय- 2/1/पृष्ठ-38

2- मनुस्मृति - 3/56

3- मारकण्डेपुराण - 21/68-73 - 27/10

पति और पत्नी का उक्त सम्बन्ध क्षणिक नहीं था अपितु स्थायी था । एक बार विवाह सूत्र में बंध जाने के उपरान्त आमरण उसी छाया के नीचे धर्म कार्य करते हुए परस्पर कभी पृथक होने की बात भी नहीं सोचते थे । जैसा कि मनु द्वारा निम्न वाक्यों में अभिव्यक्त किया गया है -

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एवं धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयो परः ।।
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौतु कृतक्रियौ ।
यथानाभिचरेतां तौ वियुक्ताविकारेतरम् ।।[1]

मनुस्मृति

पति-पत्नी के सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ एवं पावन थे पति पत्नी के लिए सर्वस्य एवं शरणदाता था ।[2] इसी प्रकार पत्नी सहधर्मचरी एवं सहधर्मचारिणी थी जिसके बिना कोई धार्मिक कृत्य सम्भव ही नहीं था । जैसा कि रामायणादि[3] ग्रन्थों ने प्रतिपादित किया है । मनु ने लिखा है कि पति-पत्नी का पारस्पर सौहार्द तथा एकनिष्ठता जीवन पर्यन्त क्षमायुक्त थी । मनु ने इस बात को निम्न पंक्तियों में उद्धृत किया है।

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां का क्षन्ती तमनुमत्तमम् ।।[4]

मनुस्मृति

1- मनु0 9/10/9/102

2- ऋ0 - 4·366

3- रामायण 2·73·26

भारतीय इतिहास में अनेक ऐसी पत्नियों के दृष्टान्त है जो पति के प्रति एक निष्ठता, तथा सात्विकता व्यक्त करती है। ऐसी अनेक भार्याओं का उल्लेख है जो अपने पति की विभिन्न दुरवस्थाओं के आबद्ध यावज्जीवन उसमें मनोनिवेश पूर्वक अनुरक्त थी। यथा-सुदर्चला सूर्य में, शची इन्द्र में, अरुन्धती वाशीष्ठ में लोपामुद्रा अगस्त्य में, सावित्री सत्यवान में, दमयन्ती सौदास में, केशिनी सगर में तथा दमयन्ती नल में। महाभारत में एक कथा आई है जिसमें सुकन्या अपने च्यवन के लिए कहती है कि जिसके लिए मेरे पिता ने मुझे अर्पित कर दिया है उसका जीवन पर्यन्त परित्याग नहीं करूंगी। जैसा कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट है -

दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ।।[1]

इसी प्रकार सावित्री अपने पति सत्यवान के लिए कहती है कि पति लम्बी आयु वाला हो या अल्पायु हो, सगुण हो अथवा निर्गुण। मैने एक बार जिसे पति चुन लिया उससे भिन्न दूसरा पति नहीं चुनूंगी पुकारूँगी।[2]

उपर्युक्त कथन भारतीय नारी के शील आदर्श एवं मर्यादा का प्रतीक है।

1- महाभारत - 3•294•27

2- श्री आ० 4•1•5•9

जातकों से भी विदित होता है कि सुजाता एवं सम्बुला जैसी स्त्रियों ने अपनी सच्चरित्रता, तथा एक चित्तता द्वारा पति-जीवन को स्वर्ग बना दिया था। सम्बुला का पति कुष्ठग्रस्त था किन्तु उस पतिव्रता साध्वी स्त्री ने वन में निवास कर स्वकीय पति की मनोनिवेशपूर्वक देखभाल एवं सेवा की।[1]

पति-पत्नी का सर्वप्रमुख धर्म एवं आदर्श यह था कि वे साथ-साथ एकनिष्ठ होकर देवों ऋषियों एवं पितरों के ऋण चुकाते थे तथा निर्बाधरूप से पंच-महायज्ञ सम्पन्न करते थे। उनके सहधर्म पर गोभिल का यह कथन है कि राम ने अपनी यशस्विनी पत्नी सीता की स्वर्णमूर्ति बनाकर भाइयों से अर्चित बहुविध यज्ञों का अनुष्ठान किया। जैसा कि निम्नवत् द्रष्टव्य है -

> रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
> ईजेयज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरर्चितैः ।।[2]
>
> गोभिलस्मृति

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में

1- जातक - 5. पृ0 88.89

2- गोभिल स्मृति- 3.10

वैदिक काल से लेकर महाकाव्य काल, सूत्रकाल एवं कतिपय तत्परवर्ती काल में स्त्री एवं पुरुषों के मध्य सुमधुर एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया । यही कारण है कि पत्नी को पति की अर्धांगिनी माना गया । अर्धनारीश्वर की कल्पना की गई । ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के सम्बन्ध को तत्काल में वागर्थ की भाँति मिला हुआ माना गया है । यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने भगवती पार्वती तथा भगवान् शङ्कर की वन्दना निम्न शब्दों में की ।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

– रघुवंश, प्रथम सर्ग, प्रथम श्लोक

(तृतीय अध्याय)

अर्थशास्त्र में विवाह

"अर्थशास्त्र में विवाह"

(1) विवाह के उद्देश्य -

हिन्दू समाज में विवाह एक अनिवार्य संस्कार है, जिसका उद्देश्य अत्यन्त पवित्र और गौरवशाली है। इसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण के दूसरे अध्याय में कहा है कि "विवाहपूर्वो व्यवहारः।" इसका तात्पर्य यह है कि विवाह के बाद ही सारे सांसारिक व्यवहार आरम्भ होते हैं। कौटिल्य के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि विवाह के बाद ही व्यक्ति धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसे देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, अतिथि-ऋण और भूतऋण से मुक्ति मिलती है। ऋग्वेद के अनुसार विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता है तथा देवताओं के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता प्रदान करता है।[1] विवाह का उद्देश्य धार्मिककृत्यों को करने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करना है। पति-पत्नी के बिना कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

विवाह का दूसरा उद्देश्य है पुत्र की प्राप्ति। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि पाणिग्रहण उत्तम सन्तान के लिए है।[2] वैदिक युग से

1- ऋग्वेद- 8/30

2- ऋग्वेद-10/85/36

लेकर आज तक सन्तान की प्रबल इच्छा मनुष्य में रही है तथा उसके निमित्त वह अपनी उत्कट अभिलाषा भी व्यक्त करता रहा है क्योंकि हिन्दू समाज में पुत्र की अपार महत्ता है । मनुस्मृति में कहा गया है कि "पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा संसार-सागर से पार करने की "अतितारिणी" (नौका) है ।[1] परिवार की निरन्तरता, समाज का विस्तार, क्रमशः नई पीढ़ियों का आगमन तथा धार्मिक कृत्यों का प्रचलन मूलतः सन्तानोत्पत्ति पर आधारित रहा है । लोक और परलोक की कल्पना के माध्यम से सन्तान की अपेक्षा धर्मशास्त्रों में की गई है तथा उसकी अनिवार्यता पर बल दिया गया है । इस प्रकार यदि देखा जाय तो पुत्र की प्राप्ति के लिए विवाह की आवश्यकता होती है । विवाह सम्पन्न होने पर पुरोहित वर-वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आशीर्वाद देता है । इस प्रकार यदि देखा जाय तो विवाह का उद्देश्य पुत्र उत्पन्न करना है ।

विवाह का एक प्रयोजन रति-सुख अथवा यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि भी थी, जिससे प्राचीन व्यवस्थाकारों ने मनुष्य के लिए आवश्यक बताया क्योंकि काम-सन्तुष्टि से व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक सन्तुलन बना रहता है तथा वह स्वस्थ और सच्चरित्र आधार पर समाज का निर्माण करता है । हिन्दू समाज में ही नहीं सभी समाजों में विवाह का यही उद्देश्य रहा है । वैदिक युग में सम्भोग को आनन्द की पराकाष्ठा माना गया है । मनु जैसे व्यवस्थाकारों ने भी रति

1- मनुस्मृति - 9/137

की महत्ता को स्वीकार की है तथा विवाह के उद्देश्यों में इसे प्रधान माना है ।[1] हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में काम-भावना का स्थान धर्म से कभी भी महत्वशाली नहीं रहा है । कौटिल्य का मत है कि धर्म और अर्थ में विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए ।[2] इस प्रकार व्यवस्था से समाज नियमित और नियन्त्रित हो जाता है । यदि विवाह जैसी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन न किया गया होता तो सर्वत्र अव्यवस्था और अशान्ति का वातावरण पैदा हो जाता ।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो विवाह का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित, सुसंगठित और विकासोन्मुख बनाना है । विवाह के द्वारा ही व्यक्ति अपने पारिवारिक बन्धन में बंधता है । परिवार के दायित्व की पूर्ति पति-पत्नी के सहयोग से सौहार्दपूर्ण वातावरण में होता है ।

विवाह के प्रकार -

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के तृतीय अधिकरण के द्वितीय अध्याय में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं । विष्णु पुराण में भी विवाह के आठ प्रकार माने गये है जो निम्नलिखित है -

---

1- मनुस्मृति 9/28

2- कौ0अ0 1-7 धर्मार्थविरोधेन कामं न सेवेत् ।

ब्राह्मो देवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचाष्टमो मतः ।[1]

इसी प्रकार आश्वलायन गृहसूत्र, गौतम, बौधायन धर्मसूत्र मनुस्मृति, महाभारत और याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रकारों ने विवाह के आठ प्रकारों की चर्चा की है । इन विवाह-प्रकारों के स्वरूप का विकास-समय और परिस्थितियों के अनुसार होता गया । लोगों ने अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार जिन विवाह प्रणालियों को चला दिया और कालक्रमानुसार जिनका प्रचलन हो गया, वे ही आगे चलकर विवाह के अलग प्रकार बन गये । किन्तु इन विवाह प्रकारों में नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों के विवाह प्रकार समाज में अत्यधिक प्रचलित हुए तथा अनैतिक और अधार्मिक वृत्तियों से प्रभावित विवाह प्रकार बहुत कम स्वीकार किये गये । किन्तु इन विवाह प्रकारों से यह अवश्य भाषित होता है। कि समाज में अनेकों प्रकार के लोग रहते थे जो अपनी परिस्थितियों से उत्प्रेरित होकर इच्छानुसार विवाह करते थे ।

(1) ब्राह्म विवाह -

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ब्राह्म विवाह को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ बताया है कौटिल्य ने कहा है कि वस्त्र-आभूषण आदि से सजाकर विधिपूर्वक-

---

1- विष्णुपुराण - 3/10/24

कन्यादान करना ब्राह्म विवाह कहलाता है ।[1] इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्म विवाह विवाह में वर के कुल आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलङ्•कृत कर, प्रजा की उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म-कर्म करने के प्रयोजन से कन्या प्रदान करें ।[2] कौटिल्य ने जिस ब्राह्म विवाह का विवेचन किया वह अन्य धर्मशास्त्र कारों की दृष्टि में भी उत्तम कोटि का विवाह है ।

2- प्राजापत्य विवाह -

कौटिल्य के अनुसार- कन्या और वर, दोनों सहधर्म पालन करने की प्रतिज्ञा कर जिस विवाह बन्धन को स्वीकार करते हैं, उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं ।[3] इस विवाह प्रकार के अन्तर्गत वर की विधिपूर्वक पूजा करके कन्या का दान किया जाता था तथा वर-वधू को यह निर्देश दिया जाता था कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिलकर यावज्जीवन धर्माचरण करें ।[4] आज हिन्दू समाज में जो विवाह प्रकार

1- कौ0 अ0 - कान्यादानं कन्यामलङ्•कृत्य ब्राह्मो विवाहः ।

कौ0 अ0 (3/2)

2- आ0 ध0 सू0 - 2/17

3- सहधर्मचर्या प्राजापत्यः ।

कौ0 अ0 (3/2)

4- मनु0 - 3/30

प्रचलित है, वह प्राजापत्य विवाह का ही संवर्धित और विकसित रूप है । इसके अन्तर्गत वर और वधू दोनों पक्षों के लोग एक दूसरे का आदर और सम्मान करके अपना सम्बन्धी बनाते और स्वागत सत्कार करते हैं ।

3- आर्ष विवाह-

कौटिल्य के अनुसार-"वर से गऊ का जोड़ा लेकर जो विवाह किया जाता है उसे आर्ष विवाह कहते हैं ।[1] इस प्रकार के विवाह में वर द्वारा ससुर को दिया गया यह उपहार कन्या के मूल्य के रूप में भी था । जैमिन, शबर और आप स्तम्ब ने इस उपहार को वधू के मूल्य के रूप में नहीं स्वीकार किया है ।[2] कुछ लो इसे एक प्रमाण का प्रथा के रूप में स्वीकार किये हैं । महाभारत से विदित होता है कि शल्य ने अपनी बहन माद्री के विवाह के लिए कुल प्रथा के अनुसार अत्यन्त संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य ग्रहण किया था ।[3] किन्तु यह कन्या विक्रय नहीं था, बल्कि पूर्वगामी परम्परा का निर्वाह मात्र था । चौथी शती ई० पू० के लेखक मेगस्थनीज के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में विवाह के अवसर पर वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को एक गाय और बैल भेंट में अर्पित किये जाते थे ।

1- गोमिथुनादानादार्षः ।

को० अ० {3/2}

2- आ० ध० सू० {2/18} जैमिनि-6/1/15

3- महाभारत -1/122/9

4- देव-विवाह -

कौटिल्य के अनुसार- विवाह वेदी में बैठकर ऋत्विक् को जो कन्या दान किया जाता है उसे देव विवाह कहते हैं।[1] आपस्तम्ब के अनुसार इस विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज को प्रदान करता था जो श्रौत यज्ञ कर रहा होता था।[2] मनु ने भी देव विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया है-

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।[3]

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अपनी कन्या को विवाहित करने के लिए पिता एक यज्ञ का आयोजन था। जो व्यक्ति उस यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न कर लेता था, उसी से उस कन्या का विवाह किया कर दिया जाता था।

5- गान्धर्व-विवाह-

कौटिल्य के अनुसार-"कन्या और वर का आपसी सलाह से किया गया विवाह गान्धर्व विवाह कहलाता है।[4] आधुनिक युग में इसी गान्धर्व विवाह

1- अन्तर्वेद्यामृत्विजे दानाद् दैवः। कौ० अ० 3/2

2- आ०ध०सू०-2/19

3- मनु० 3/28

4- मिथस्समवायाद गान्धर्वः।
कौ०अ० 3/2

को " प्रेम विवाह " कहते हैं । जब युवक-युवती परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता-पिता की उपेक्षा करके विवाह कर लें तब वह प्रथा गान्धर्व विवाह कही गयी ।[1] मनु ने कन्या और वर के इच्छानुसार कामुकतावश संयुक्त होने को गान्धर्व विवाह कहा है । वस्तुत, यह प्रथा प्रेम विवाह या प्रणय-विवाह का सूचक है, जो हिन्दू समाज में अत्यन्त प्राचीन काल से वर्तमान है । दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह भी गान्धर्व-विवाह ही था । मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह सभी वर्णों के लिए धर्मसम्मत था और वात्स्यायन के मत से यह विवाह अनुरागमय, सुखद और सर्वश्रेष्ठ था ।[2]

6- आसुर विवाह-

कौटिल्य के अनुसार- "कन्या के पिता को धन देकर जो विवाह किया जाता है उसे आसुरविवाह कहते हैं ।[3] वस्तुतः इस विवाह-प्रणाली में कन्या खरीदी जाती है । महाभारत में कहा गया है कि प्रायः धन से कन्या को खरीदकर और उसके सम्बन्धियों को धन का प्रलोभन देकर जो विवाह सम्पन्न किया जाता है, विद्वान उसे आसुर धर्म कहते हैं ।[4] बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार के विवाहके

1- बौ0 ध0सू0- 1/11/6

2- कामसूत्र- 3/5/30, मनु0 3/23

3- शुल्कादानासुरः ।

कौ0अ0 3/2

4- महाभारत- 13/47/3

अनेक उदाहरण मिलते हैं । एक जातक में उल्लिखित है कि उदयभद्दा नामक स्त्री नेकहा था कि मनुष्य अपार धन व्यय कर स्त्री प्राप्त कर सकता था ।[1] ऐसी पत्नी के लिए बौद्ध साहित्य में "कीतोधनेन बहुना" अथवा भरिदया धनकीता" जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।[2]

इस प्रकार के विवाह की प्रथा समाज में कम प्रचलित थी, और जो प्रचलित भी थी, उसका कारण बाल-विवाह एवं स्त्री-शिक्षा की कमी थी । परिणाम स्वरूप धन के प्रलोभन में आकर कुछ अभिभावकों ने कन्याओं का विक्रय करना प्रारम्भ कर दिया ।

7- राक्षस-विवाह-

कौटिल्य के अनुसार-"किसी कन्या से बलात्कार करके विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है ।"[3] मनु के अनुसार कन्या-पक्षवालों को मारकर अथवा उनको घायल करके, गृह के द्वारा आदि को तोड़कर तथा रोती-चिल्लाती कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस विवाह है ।[4] इस प्रकार के विवाह में

1- जातक, 4 पृ0 108

2- जातक, 2, पृ0 185, 5, पृ0 269

3- प्रसह्यादानाद् राक्षसः ।

कौ0अ0 3/2

4- मनु0 - 3/33

शक्ति एवं बलप्रयोग एक आवश्यक अवयव था । यह विवाह-प्रकार संभवतः आदिम जातियों में प्रचलित था जो बाद तक चलता रहा ।

8- पैशाच विवाह -

कौटिल्य के अनुसार -सोई हुई कन्या को हरण करके विवाह करना पैशाच विवाह कहलाता है ।[1] हिन्दू समाज में यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना जाता रहा है । मनु के अनुसार सोती हुई, मदहोश, उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर अपनाता है तब वह विवाह-प्रकार पैशाच कहा जाता है ।[2] ब्राह्मणों के लिए यह विवाह सर्वथा अनुपयुक्त और वर्जित था । केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए ही ऐसा विवाह विहित बताया गया है ।

कौटिल्य स्वयं ही इन विवाहों के बारे में कहता है कि उक्त आठ प्रकार विवाहों में प्रथम चार प्रकार के विवाह पिता की सलाह से होने के कारण धर्मानुकूल विवाह हैं । अन्य चार प्रकार के विवाह-माता पिता दोनों की सलाह से होते हैं । क्योंकि वे दोनों लड़की को देकर उसके बदले में धन लेते हैं । उस धन को यदि पिता न हो तो माता ले सकती है और माता न हो तो पिता ले सकता है ।[3]

1- सुप्तादानात् पैशाचः । को0अ0 3/2

2- मनु0 3/34

3- को0 अ0- 3/2

इसके अतिरिक्त प्रीतिवश दिया हुआ दूसरे प्रकार का धन उस कन्या का है जिसके साथ विवाह किया गया है। सभी प्रकार के विवाहों में स्त्री-पुरुष में परस्पर प्रीति का होना आवश्यक है।[1]

स्त्रीधन -

कौटिल्य के अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार का होता है : (1) वृत्ति और (2) आबध्य। स्त्री का वृत्ति धन वह है जो स्त्री के नाम से बैंक आदि में जमा किया गया हो। उसकी रकम-कम से कम दो हजार तक होनी चाहिए गहना या जेवर आदि आबध्य धन कहलाते हैं, जिनकी तादाद की कोई नियम नहीं है।[2] स्मृतिकारों में कात्यायन ने 27 श्लोकों में स्त्रीधन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने मनु, याज्ञ0, नारद एवं विष्णु के छः स्त्रीधन प्रकारों का वर्णन किया है।

(1) अध्यग्नि स्त्रीधन-

विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो दिया जाता है उसे बुद्धिमान लोग अध्यग्नि स्त्रीधन कहते हैं।

(2) अध्यावहनिक स्त्रीधन-

पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है उसे अध्यावहनिक स्त्रीधन कहा जाता है।

1- द्वितीयं शुल्कं स्त्री हरेत्। सर्वेषां प्रीत्यारोपणमप्रतिषिद्धम्। कौ0अ03/2

2- कौ0 अ0-3/2

(3) प्रीतिदत्त स्त्रीधन-

श्वसुर या सास द्वारा स्नेह में जो कुछ दिया जाता है और श्रेष्ठ जनों का वन्दन करते समय उनके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उसे प्रीतिदत्त स्त्रीधन कहा जाता है ।

(4) शुल्क स्त्रीधन-

जो बर्तनों, भारवाही पशुओं दुधारु पशुओं, आभूषणों एवं दासों के मूल्य के रूप में प्राप्त होता है वह शुल्क कहलाता है ।

(5) अन्वाधेय स्त्रीधन-

विवाहोपरान्त पति-कुल एवं पितृ-कुल के बंधुजनों से जो कुछ प्राप्त होता है वह अन्वाधेय स्त्रीधन कहलाता है । भृगु के मत से स्नेहवश जो कुछ पति या माता-पिता से प्राप्त होता है वह अन्वाधेय कहलाता है ।

(6) सौदायिक स्त्रीधन-

वह धन जो विवाहित स्त्री या कुमारी को अपने पिता के घर से मिल जाता है या भाई से या माता-पिता से प्राप्त होता सौदायिक स्त्रीधन कहलाता है ।

कात्यायन की उपर्युक्त परिभाषायें सभी निबन्धों को मान्य है । यहाँ तक की दाय भाग ने भी उनका अनुमोदन किया है ।

कौटिल्य ने स्त्रीधन की जो सीमा निर्धारित की है वह कात्यायन और व्यास द्वारा निर्धारित सीमा से साम्य रखती है । इन्होंने भी दो सहस्र पणों तक ही स्त्रीधन की सीमा बतायी है किन्तु यह निर्देश दिया है कि अचल सम्पत्ति न दे । स्मृतिचन्द्र एवं व्यवहार मयूख ने व्याख्या की है कि दो सहस्र पणों की सीमा वार्षिक भेद तक ही है किन्तु यदि भेंट एक ही बार दी जाय तो अधिक भी दिया जा सकता है और अचल सम्पत्ति भी दी जा सकती है । इस प्रकार विवाह के समय स्त्रियों को कुछ सम्पत्ति स्त्रीधन के रूप में प्राप्त हो जाती है । यदि इसका सच्चे अर्थों में आकलन किया जाय तो यह एक प्रकार की भविष्य निधि है, जो आकस्मिक अवसरों पर सहायक होती है ।

स्त्रीधन का उपभोग -

कौटिल्य ने इस विषय पर मानवीय दृष्टिकोण रखते हुए कुछ विशिष्ट नियम प्रतिपादित किया है जिसके अधीन रहते हुए स्त्रीधन का उपभोग किया जा सकता है -

किसी स्त्री का पति परदेश चला जाय और उसकी (स्त्री की) जीविका निर्वाह के लिए कोई जरिया न हो तो वह स्त्री अपने पुत्र और अपनी पतोहू के जीवन निर्वाह के लिए अपने निजी धन को खर्च कर सकती है ।[1]

1- कौ० अ० - 3/2

किसी विपत्ति, बीमारी, दुर्भिक्ष या इसी तरह के आकस्मिक संकट से बचने के लिए और किसी धर्म कार्य में पति भी यदि स्त्री के निजी धन को खर्च करता है तो उसमें कोई बुराई नहीं । इसी प्रकार दो सन्तान पैदा होने पर स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर यदि उस धन को खर्च करें तब भी कोई दोष नहीं । ऐसे पति-पत्नी जिनका विवाह धर्मानुकूल हुआ हो, कोई सन्तान पैदा न होने पर तीन वर्ष तक उस धन को खर्च कर सकते हैं ।[1] जिन्होंने गान्धर्व विवाह या असुर विवाह किया हो और आपसी सलाह से वे स्त्रीधन को खर्च कर डालें तो उनसे ब्याज सहित मूलधन जमा कर लिया जाय ।[2] जिन्होंने राक्षस तथा पैशाच विधि से विवाह किया हो ऐसे पति-पत्नी यदि स्त्रीधन को खर्च कर डालें तो उन्हें चोरी का दण्ड दिया जाय ।[3]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि यदि विवाह धर्मानुकूल हो तो कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्रीधन को खर्च किया जा सकता है । यदि विवाह गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच विधि से किया गया है तो स्त्रीधन को खर्च करने वाले को दण्डित किया जाता है । जिन विवाहों की प्रमाणिकता में कमी है और वह

1- को0 अ0 - 3/2

2- गान्धर्वासुरोपभुक्तं सवृद्धिकमुभयं दाप्येते ।

को0 अ0 3/2

3- राक्षसपैशाचोपभुक्तं स्तेयं दद्यात् ।

को0अ0 3/2

अविश्वसनीय है, तो स्त्री को अपने स्त्रीधन को सुरक्षित रखने का दायित्व प्रदान किया गया। कभी समाज में ऐसे विवाह केवल धन के मोहवश किया जाता है। इसलिए स्त्री को स्त्रीधन सुरक्षित रखना चाहिए। इन्हीं परिस्थियों के कारण कौटिल्य ने स्त्री-धन को खर्च करने वाले को दण्डित किये जाने का विधान प्रदान किया है।

स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार-

पति के मर जाने पर स्त्री यदि अपने धर्म कर्म पर रहना चाहती हो तो उसे अपने दोनों प्रकार के निजी धन तथा प्रीति धन से लेना चाहिए। उस धन को ले लेने के बाद यदि वह दूसरा पति कर ले तो ब्याज सहित सारे मूल धन को वापिस कर दे। यदि वह परिवार की इच्छा से दूसरा विवाह- करना चाहती है तो अपने मृत पति और श्वसुर के दिये हुए धन को विवाह के समय में ही पा सकती हैं, उसके पहले नहीं।[1]

कौटिल्य ने शूद्र वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों की स्त्रियों को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्रदान किया है और इसके साथ ही उसने कुछ नियम भी निरूपित किया है जो इस प्रकार हैं -

1- जिन शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों की पुत्रहीन स्त्रियों के पति कुछ समय के लिए विदेश गये हों वे एक वर्ष तक और पुत्रवती स्त्रियाँ इससे अधिक

1- कौ० अ० - 3/58/2

समय तक अपने पतियों के आने की इन्तजारी करें । यदि पति उसके भरण-पोषण का पूरा इन्तजाम करके गये हों तो इससे दुगुने समय तक पत्नियाँ उनकी इन्तजारी करें । जिनके भोजन वस्त्र का इन्तजाम न हो, उनके बन्धु-बान्धवों को चाहिए कि चार वर्ष या इससे अधिक आठ वर्ष तक वे उनके भोजन वस्त्र का प्रबन्ध करें । इसके बाद पहिले विवाह में दिये गये धन को वापस लेकर वे उस स्त्री को दूसरी शादी करने को छूट दे दें ।[1] इन शर्तों के अधीन रहतेहुए कोई भी स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है, चाहे वह जिस वर्ण की हो ।

2- अध्ययन के लिए विदेश गये ब्राह्मणों की पुत्रहीन स्त्रियाँ दस वर्ष तक और पुत्रवती स्त्रियाँ बारह वर्ष तक, अपने पतियों की आने की प्रतीक्षा करें ।[2] इसके उपरान्त स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर सकती हैं ।

3- कुटुम्बक्षय या समृद्ध बन्धु-बान्धवों के छोड़े जाने के कारण या [illegible] की मारी हुई कोई भी प्रोषितपतिका जीवन निर्वाह के लिए, अपनी इच्छा के अनुसार, दूसरा विवाह कर सकती है ।[3]

1- को० अ० - 3/60/4

2- ब्राह्मणाधीयानं दशवर्षाण्य प्रजाता, द्वादश प्रजाता ।

को०अ० 3/60/4

3- को० अ० 3/60/4

चार प्रकार के धर्म-विवाहों के अनुसार जिस कन्या का विवाह हुआ हो, और यदि उसका पति उसे बिना बताये ही परदेश चला जाय तो सात मासिक धर्म तक वह अपने पति की प्रतीक्षा करे। यदि उसकी कोई सूचना मिल गई हो तो वह एक वर्ष तक अपने पति की प्रतीक्षा करे। इसके उपरान्त स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है।

पति यदि बताकर विदेश जाय और उसकी कोई खबर न मिले तो पाँच मासिक धर्म तक और यदि उसका समाचार मिल जाय तो दश मासिक धर्म तक उसकी प्रतीक्षा करे। विवाह के समय प्रतिज्ञात धन में से जिसने अपनी पत्नी को थोड़ा ही धन दिया हो और विदेश जाने पर उसकी कोई सूचना न मिली हो तो तीनमासिक धर्म पर्यन्त, यदि खबर मिल जाय तो सात मासिक धर्म तक पत्नी उसकी प्रतीक्षा करे। जिस पति ने विवाह में प्रतिज्ञात सभी धन पत्नी को चुकता कर दिय हो, विदेश जाने पर उसकी कोई सूचना न मिले तो पाँच मासिक धर्म तक और यदि कोई सूचना मिल गयी हो तो दस मासिक धर्म तक प्रतीक्षा करें।

उपरोक्त इन सभी अवस्थाओं के बीत जाने पर कोई भी स्त्री धर्माधिकारी से आज्ञा लेकर अपनी इच्छा से अपना दूसरा विवाह कर सकती है। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का कथन है- "क्योंकि ऋतु काल में स्त्री को पुरुष का सहवास न मिलना, धर्म का नाश हो जाने के बराबर अमङ्गलकारी है।

§5§ जिस स्त्री का पति सन्यासी हो गया हो या मर गया हो उसकी स्त्री सात सात मासिक धर्म तक दूसरा विवाह न करे। यदि उसकी कोई सन्तान हो तो

वह एक वर्ष तक रुक कर विवाह करे । उसके बाद वह अपने पति के सगे भाई के साथ विवाह कर ले । यदि ऐसे सगे भाई बहुत हो तो वह,पति के पीठ पीछे पैदा हुए धार्मिक एवं भरण पोषण में समर्थ भाई के साथ विवाह कर लें या जिस भाई की पत्नी न हो उसके साथ विवाह कर ले । यदि पति का कोई सगा भाई न हो तो समान गोत्र वाले उसके किसी पारिवारिक भाई के साथ विवाह कर ले । क्रम से पति का जो नजदीक-से-नजदीक का भाई हो,उसके साथ विवाह कर ले ।[1]

कौटिल्य ने पुनर्विवाह का जो भी क्रम निर्धारित किया है यदि उसके अन्यथा कोई स्त्री पुनर्विवाह करती है तो वह स्त्री और जिस पुरुष के साथ विवाह करती है,दोनों दण्डित किये जाते हैं । कौटिल्य कहता है कि-अपने पति की सम्पत्ति हकदार पुरुषों को छोड़कर यदि कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करे तो विवाह करने वाला पुरुष, वह स्त्री, उस स्त्री को देने वाला,उस विवाह में शामिल होने वाले, ये सभी लोग, स्त्री को बहकावे, या अनुचित ढंग से उसको अपने काबू में करने के जुर्मदार समझे जांय और उनको यथोचित दण्ड दिया जाय ।[2]

1- कौ० अ० - 3/60/4

2- कौ० अ० - 3/60/4

यदि विधवा स्त्री अपने श्वसुर की इच्छा के विरुद्ध पुनर्विवाह करना चाहे तो श्वसुर और मृत-पति का धन उसे नहीं मिलेगा । यदि बिरादरी वालों के हाथ से उसके पुनर्विवाह का प्रबन्ध हो तो बिरादरी वाले ही उसके लिए हुए धन को वापस करें ।[1]

स्त्री को पुनर्विवाह करने पर हुई हानि -

§1§ यदि पुत्रवती स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे तो वह निजी स्त्रीधन की अधिकारिणी नहीं हो सकती । उस स्त्री के निजी धन के उत्तराधिकारी उसके पुत्र ही होंगे ।[2]

§2§ यदि कोई विधवा स्त्री अपने पुत्रों के भरण पोषण के लिए पुनर्विवाह करना चाहे तो उसे अपनी निजी सम्पत्ति अपने लड़कों के नामजद कर देनी पड़ेगी ।[3]

§3§ अपनी इच्छा से खर्च करने के लिए प्राप्त हुए धन को भी वह पुनर्विवाह करने के पूर्व अपने पुत्रों के नाम लिख दें ।[4]

कौटिल्य के द्वारा जो स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है वह एक सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत समाज की व्यवस्था का निरूपण करता है

1- कौ० अ० 3/58/2

2- कौ० अ० 3/58/2

3- कौ० अ० 3/58/2

4- कौ० अ० 3/58/2

स्त्रियाँ आवश्यकतानुसार ही पुनर्विवाह कर सकती है और वह मनमाने ढंग से पुनर्विवाह नहीं कर सकती है । विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तान उत्पन्न करना था इस लिए कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि ऋतु काल के दौरान स्त्रियों को पुनर्विवाह कर लेना चाहिए । पुनर्विवाह के लिए जो व्यवस्था दी गयी है उससे समाज में स्त्रियाँ नियन्त्रित रहेगी । आधुनिक युग में यदि कौटिल्य की व्यवस्था लागू कर दी जाय तो समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार दुराचार कुछ सीमा तक नियन्त्रित हो सकता है ।

पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार-

कौटिल्य के स्त्रियों के लिए जिस प्रकार पुनर्विवाह की व्यवस्था की है उसी प्रकार पुरुषों को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किया है । कौटिल्य समाज के द्रष्टा एवं स्रष्टा दोनों थे, उन्होंने समाज की जो स्थिति देखी उसी के अनुसार व्यवस्था सृजन किया । यही कारण है कि पुरुष को भी कुछ विशेषपरिस्थितियों में पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है जो निम्नलिखित है -

§1§ यदि किसी स्त्री की सन्तान न होती हो या उसके अन्दर संतान पैदा करने की शक्ति न हो तो पति को चाहिए कि वह आठ वर्ष तक सन्तान होने की प्रतीक्षा करे । यदि स्त्री मरे हुए बच्चे जने तो दस वर्ष तक और यदि उसको कन्याही पैदा होती हों तो पति को बारह वर्ष तक इन्तजार करना चाहिए ।[1]

1- वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्रां बन्ध्यां चाकाङ्क्षेत, दश विन्दुं द्वादश कन्या-प्रसविनीम् ।

इसके बाद पुत्र की इच्छा करने वाला पुरुष पुनर्विवाह कर सकता है। जो भी पुरुष इस नियम का उल्लंघन करे उसे दहेज में मिला हुआ धन, स्त्रीधन, अतिरिक्त धन अपनी पहली स्त्री के गुजारे के लिए देना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह चौबीस पण तक का जुर्माना सरकार को अदा करे।[1]

जिस स्त्री के विवाह में न तो दहेज मिला है और उन उसके पास अपना निजी धन है, उसको दहेज तथा स्त्रीधन, के बराबर धन देकर और उसके जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त सम्पत्ति देकर कोई भी पुरुष कितनी ही स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है। क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र पैदा करने के लिए ही होती है। क्यों कि एक पुरुष की अनेक पुत्रि पत्नियाँ एक ही साथ रजस्वला हों तो पति को चाहिए कि वह सबसे पहले विवाहिता पत्नी के पास समागम के लिए जाय अथवा उस स्त्री के पास जाय जिसका कोई पुत्र जीवित हो।[2] यदि कोई पुरुष ऋतुकाल को छिपाकर अपनी स्त्री से संसर्ग नहीं करता तो उसको सरकार की ओर से छियानबे पण दण्ड दिया जाय। किसी भी पुरुषको चाहिए कि वह पुत्रवती, पवित्र जीवन वाली, वन्ध्या, मृतपुत्रा, और मासिक धर्मरहित स्त्री के साथ तब तक संभोग न करें, जब तक संभोग के लिए वह स्वयं राजी न हो जाय, संभोग की इच्छा होते हुए भी, कोढ़िन या पागल स्त्री से संभोग नहीं करना चाहिए, किन्तु पुत्र की इच्छा करने

1- पृ0 सं0 324 तीसरा अधिकरण अ0 2 क्रम 4 कौ0 अ0

2- पृ0सं0 325, कौ0 अ0 3/58/2/5

वाली स्त्री किसी भी कोढ़ी या उन्मत्त पुरूष के साथ संसर्ग कर सकती है ।

उपर्युक्ततथ्यों से ज्ञात होता है कि प्राय: हिन्दू समाज में बहुपतित्व या बहुभर्तृता का प्रचार उतना नहीं था जितना बहुपत्नीत्व का । कई पतियों वाली स्त्री समाज में बहुत अधिक आदर की पात्र नहीं मानी जाती थी । वैदिक ग्रन्थों से ऐसा पता चलता है कि उस युग में सम्भवत: एक पत्नी के कई पति तो हो जाया करते थे स्पष्ट है कि उस युग में अनेक जनजातियाँ रहती थी जिनके यहाँ की प्रथा एक से अधिक पति से विवाह करने की थी । वेदों में बहुपतित्व के उदाहरण मिलते हैं महाभारत में द्रौपदी का उल्लेख है जिसके एक से अधिक पति हैं तथा कौटिल्य ने भी पुत्रहीन पति को दूसरी भार्या से विवाह करने का निर्देश दिया है।[2] जटिला गौतमी के सात ऋषिपति थे[3]। विष्णुपुराण से पता चलता है कि मरिषा के 10 पति थे । परन्तु बहुपत्नीत्व की प्रथा हिन्दू समाज में बहुत कम थी । कुछ ही जनजातियों के उदाहरणों के अतिरिक्त बहुपतित्व तथा पुनर्विवाह के और कोई प्रमाण नहीं मिलते, धर्मशास्त्रकारों ने भी पूर्णत: इस प्रथा का विरोध किया है ।

1- पृ0 सं0 325, कौ0 अर्थ0 3/58/2/।

2- अर्थशास्त्र 3,2, वर्षाण्य - विन्दुम ।

3- विष्णुपुराण - 1-12-68

विवाह की आयु -

प्राक्काल में वर वधू के विवाह का समय निर्धारित हो गया था, किन्तु समयानुसार इसमें समुचित बदलाव भी होता रहा । वैदिक युग में दाम्पत्य सम्बन्ध यौवन प्राप्ति के बाद युवा होने पर ही किया जाता था । यानि परस्पर में जब दोनों एक दूसरे के मन को समझने में समर्थ हो जाते थे ।[1] तैत्तिरीय उपनिषद में भी वर्णित है कि जब स्त्री का मन पुत्र की अभिलाषा करने लगता था तथा उसका अंतस् काम भावना से भी उत्प्रेरितहोने लगता था तब उसका परिणय आयोजित किया जाता था[2]। इन उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में जब स्त्री और पुरुष युवा होकर एक दूसरे को चाहने लगते है तब वर और वधू के रूप में उनका विवाह होता था । विवाहआयु का सम्बन्ध क्रमशः आनुमानिक तौर पर ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद ही माना गया है ब्रह्मचर्याश्रम के पहले उपनयन संस्कार होता था जिसमें लड़कों की आयु 8 वर्ष मानी गई है इसके बारह वर्ष बाद विवाह होता था यानि 20 वर्ष बाद की आयु में विवाह होता था, पुरुषों की तरह विश्ववारा, घोषा, आपाला आदि वैदिक स्त्रियां भी ब्रह्मचर्य का जीवन विद्याध्ययन में व्यतीत करती थीं ।[3] वैदिक युग के परवर्तीकाल में प्रारम्भ की हुई स्वयम्बर उस युग के विवाह की ओर इंगित करती है वधू जब अपने मन के अनुसार वर को चुनती थी तब वह

1- ऋग्वेद - 10•84•9

2- तैत्तिरीय उपनिषद - 1•9•2

3- ऋग्वेद - 5•28,10•39,8•31

निश्चित ही युक्ती रहती थी तथा अपने सारे यौवन क्रीडा को समझती थी। रामायण में सीता तथा महाभारत में द्रौपदी का विवाह युवती होने पर ही हुआ था। यह प्रथा गृहसूत्रकाल तक आकर सिमट गई, यानि विवाह की आयु कम हो गई। तथा कन्याओं का वयानुसार नग्निका, श्यामा, कुमारी, रजस्वला, रोहिणी कन्या, गौरी, आदि रूपों में विभाजित कर दिया गया। नग्निका को प्रायः किशोर युक्ता, 10 से 12 वर्ष की कन्या को श्यामा, 12 वर्ष से अधिक को कुमारी, 10 वर्ष से अधिक को रजस्वला, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष तक की कन्या तथा इसी प्रकार 8 वर्ष तक की कन्या गौरी कही जाती। स्मृति ग्रन्थों में भी प्रायः इसी तरह की बाते कही गई हैं मनु के अनुसार तीस वर्ष की अवस्था वाला पुरूष 12 वर्ष की आयु तक की कन्या से विवाह करें या 24 वर्ष की आयु का पुरूष 8 वर्ष की वायु तक की कन्या से भी शादी कर सकता है[2]। इसी तरह कौटिल्य ने भी 12 वर्ष की लड़की तथा 18 वर्ष के लड़के को व्यवहार प्राप्त माना है।[3] बौद्ध साहित्य में षोडशी रूप का विवाह उत्तम माना गया है, मौर्य युग में विवाह की अवस्था कन्याओं के लिए 12 वर्ष, तथा पुरूषों की आयु निसन्देह अधिक मानी गई जैसा कि कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में से स्पष्ट हो चुका है और यह भी कि अगर इसके विरोध

1- गौ० ध० सू० 18,21,23,

वौ०ध०सू० 4,1,12-14

व॰ध० सू 10•70-71

2- मनुस्मृति 9•94 कौ० कृत अर्थ० 3•59•3

3- [illegible] पुमान्।

में विवाह आयु की अवमानना की जाती है तो लड़की को 12 पण और लड़के को 24 पण दण्ड देने का अधिकार है ।

इस तरह तक गुप्तकाल आने तक वर-वधू के विवाह वय में कोई बदलाव नहीं पाया । स्मृतियों और धर्मशास्त्रों ने प्रायः कन्या को रजोयुक्त न होने के पूर्व ही रुचि विवाह के लिए उचित माना है, कामसूत्र के अनुसार दोनों की आयु में 3 या 4 वर्ष का अन्तर माना है,[2] यही प्रायः गुप्तकाल में भी व्यवहृत था, ब्राह्मण वेदाध्ययन करने के बाद, विवाह करता था,[3] क्षत्रीय धनुर्वेद, रण-कौशल आदि की शिक्षा प्राप्त करने के बाद,[4] सम्राट हर्ष की बहन राज्यश्री का विवाह युवती होने पर हुआ था ।[5] धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में अल्पवय के उदाहरण मिलते हैं अलबीरूनी भी लिखता है कि हिन्दुओं की शादी छोटी अवस्था में होती थी और 12 वर्ष के अधिक आयु के स्त्री से विवाह करने का विधान नहीं था । कि इस मत को प्रायः सभी ग्रन्थों ने एकमत से स्वीकार नहीं किया है । क्योंकि विवा के योग्य कन्या की आयु 12, 16, 20 वर्ष गृहय रत्नाकर में प्राप्य है ।[6] कौटिल्य

1- कौ0 कृ0 अर्थ0 3·59,3 द्वादशपणः स्त्रिया दण्डः पुंसो द्विगुणः ।

2- का0सू0 3·12, त्रिवर्षात प्रभृति न्यूनवयसाम् ।

3- रघुवंश 5·2

4- वही 3·10,32

5- दे0 हर्षचरित

6- गृहस्थ रत्नाकर, पृ0 83 ।

वैदिक काल की तात्कालिक विवाह वय की असामाजिक अवधारणाओं को समझकर 12 वर्ष की कन्या तथा 16 वर्ष केलड़के की शादी को ही कानून वैध माना है ।

उपर्युक्त उदरणों से यह स्पष्ट हो जाता है प्राचीन काल में बाल-विवाह की प्रथा सर्वत्र पाई जाती थी यह धीरे-धीरे कालकवलित होकर समाज, राष्ट्र, परिवार, एवं व्यक्ति के कल्याण के लिए उत्तरोत्तर वयस्क विवाह की तरफ पल्लवित हुई ।

दाम्पत्य सम्बन्ध -

प्राचीन काल से समाज में दाम्पत्य सम्बन्ध अत्यन्त सुखद, पावन और पवित्र माना जाता था । पति पत्नी का जीवन अत्यधिक प्रगाढ और सम्मानयुक्त था । उनमें परस्पर सामाजिक आकर्षण होता था जिससे समाज की प्राथमिक इकाई परिवार, राष्ट्र, एवं मातृभूमि को तण्डुलवत समन्वित करता था । पत्नी अपने पति को देवता के रूप में पूजती थी, और पति पत्नी को पूज्या के रूप में । मनु के अनुसार जिस कुल में स्त्री की पूजा होती है उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती है उस कुल सब कर्म निष्फल होते हैं ।[1] इसी आधार पर दाम्पत्य सम्बन्ध अटूट और अविच्छेद रहता है । क्रमशः कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र के अनुसार दामपत्य सम्बन्ध में सर्वप्रथम स्त्री परवरिश को ही श्रेष्ठ माना है ।

1- मनु03.56 यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया ।।

यदि किसी स्त्री के भरण पोषण की अवधि नियत न हो तो पुरुष को चाहिए कि वह उस स्त्री के वस्त्र भोजन और व्यय का यथोचित प्रबन्ध करे, अथवा अपनी आमदनीके अनुसार उसको अतिरिक्त कुछ सुविधा भी दे, किन्तु किन्तु जिस स्त्री के भरण पोषण का समय नियत हो और जिस स्त्री ने दहेज, स्त्रीधन तथा अतिरिक्त धन लेना लेना स्वीकार न किया हो, पति को चाहिए कि अपनी आमदनी के अनुसार उसको बंधी हुई रकम देता जाय।[1]

यदि स्त्री अपने मायके में रहती हो या स्वतन्त्र रहकर गुजारा करती हो तो उसके भरण पोषण के लिए पति को बाध्य नहीं किया जा सकता है।[2]

कठोर स्त्री के साथ व्यवहार-

दाम्पत्य नियमों का अतिक्रमण करने वाली स्त्री को पहले नंगी अधनंगी, लूली, लगड़ी बाप मरी, माँ मरी, आदि गालियां न देकर उसको भले ढंग से नम्रता तथा सभ्यता सिखानी चाहिए। यदि इससे कार्य न सधे तो उसके पीठपर बाँस की खपाची, रस्सी या ठप्पण से तीन बार चोट करे। फिर भी वह सीधी राह पर न आवे तो उसे वाक्यारूप्य तथा दण्डपारूप्य का आधा दण्ड दिया जाय।[3] यदि दण्ड उस स्त्री को भी दिया जाय जो अकारण ही निर्दोष पति से

1- को० कू० अर्थ० 3·59 3·2 पृ० सं० 326
2- " " 3 पृ० सं० 327
3- " " 3 । पृ० सं० 327

बुरा व्यवहार करती हो और पति के दरवाजे पर या बाहर किसी प्रकार की झगड़ेबाजी या एयाशी करे, इस तरह नियम विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्री के लिए इसी प्रकरण में दण्ड का निर्देश किया गया है। यहाँ तक कटुभाषिणी स्त्री के व्यवहार पर विचार व्यक्त किया गया।[1]

पति पत्नी का द्वेष -

अपने पति के साथ द्वेष रखने वाली स्त्री यदि सात ऋतुकाल तक दूसरे पुरुष के साथ समागम करती रही तो उसे चाहिए कि वह अपने दोनों प्रकार के स्त्रीधन पति को सौंपकर पति को भी दूसरी स्त्री के साथ समागम करने की अनुमति दे दें।[2]

यदि पति स्त्री से द्वेष करता होतो उसको चाहिए कि वह अपनी स्त्री को सन्यासिनी तथा भाई बन्धुओं के साथ अकेली रहने से न रोके।[3]

यदि पराई स्त्री के साथ संभोग करने के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने पर भी यदि कोई पुरुषी इनकार कर दे या किसी प्रेमिका के साथ संभोग करके साफ मुकर जाय, तो उसको बारह पण का दण्ड दिया जाय।[4]

1- को0 पृ0 अर्थ0 3·59·3· 2· पृ0 सं0 327

2- को0 " " पृ0 सं0 327

3- को0 " " पृ0 सं0 327

4- को0 कृ0 अर्थ0 3·59·3·1 पृ0 सं0 328

इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि भारतीय इतिहास में ऐसी अनेक पत्नियों के दृष्टान्त हैं जो पति के प्रति एकनिष्ठता और सात्विकता व्यक्त करती है प्राचीन युग में ऐसी अनेक भार्यायें हुई जो अपने पति की विभिन्न दुर्व्यवस्थाओं के बावजूद यावज्जीवन उनमें मनोनिवेश पूर्वक अनुरक्त थी जैसे सुदर्चला सूर्यमें, शची इन्द्र में लोपामुद्रा अगस्त्य में सावित्री सत्यवान् में, दयायन्ती सोदास, दमयन्ती नल में प्राय: ये सभी वैदिक तथा लौकिक स्त्रियाँ भारतीय समाज में पितृ द्वारा अर्पित पति के प्रति मानो सौगन्ध खाती हुई जीवन पर्यन्त परित्याग न करने का संकल्प लेकर नरनारी समाज को उपदेश देती है ।

सम्बन्ध विच्छेद -

पति पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद का अभिप्राय यह होता है कि पति और पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध को सामाजिक,धार्मिक और वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया जाय जिससे दोनों एक दूसरे से मुक्त हो जाय और उन पर किसी भी प्रकार का एक दूसरे का नियन्त्रण न रह जाय हिन्दू समाज में दाम्पत्य सम्बन्ध विच्छेद अथवा तलाक की व्यवस्था किन्हीं विशेष स्थितियों में ही की गई थी । यद्यपि पति और पत्नी एक दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का वैध अधिकार नहीं है । किन्तु विशेष परिस्थितियों में पति त्याज्य थे जैसे नष्ट,प्रव्रजित नपुंसक पतित,दूर-देशवासी इत्यादि । धर्मसूत्रों ने जातिभ्रष्ट और नपुंसक पति को त्याग देने के लिए कहा है ।[1] बौद्ध साहित्य में भी सम्बन्ध विच्छेद की प्रथा है । वैदिक युग में भी

1- बौ0 घ0 सू0 8·2·26, व घ0 सू0 17·62·64 ।

स्त्री अपने पति को त्याग सकती थी,[1] विवाह व्यवस्था के अनुसार पत्नी को पति के साथ रहने और अपना भरण पोषण पाने का अधिकार प्राप्त था किन्तु विशेष परिस्थितियों में और पारस्परिक मतभेद होने पर पत्नी का अधिवेदन, पत्नी का त्याग, अथवा पति का त्याग सम्भव हो सकता था। यदि पत्नी बन्ध्या हो और केवल कन्या उत्पन्न करने वाली हो या उसकी सन्तान उत्पन्न होकर मर जाती हो तो ऐसी स्थिति में उस स्त्री के अनुमति से अथवा स्वतः दूसरी पत्नी करने का अधिकार पुरुष को था।[2]

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के अनुसार निम्न परिस्थितियों में सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है।

पति पत्नी में परस्पर द्वेष उत्पन्न हो जाने पर सम्बन्ध विच्छेद की व्यवस्था है।[3]

किसी भी नीच प्रवासी, राजद्रोही, घातक जातिधर्म से गिरे हुए और नपुंसक पति से स्त्री विवाह विच्छेद कर सकती है।[4] पति से द्वेष वैमनस्य

1- अथर्ववेद 9·5 26·27

2- बौधायन, कृत्यकल्पतरु के व्यवहार काण्ड के स्त्री पृ0 में उद्धृत-
आज्ञाकारी बन्ध्या - सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्।

3- अर्थशास्त्र 33-"परस्परं द्वेषान्मोक्षः"

4- अर्थशास्त्र 3·58·2·2·पृ0 सं0 325

रखने वाली स्त्री, पति की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं दे सकती है । इसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी को तलाक नहीं दे सकता है दोनों में परस्पर दोष होने पर ही तलाक सम्भव हो सकता है ।[1]

पत्नी में कुछ बुराइयाँ आ जाने के कारण यदि पति उसका परित्याग, करना चाहे तो, जो धन, उसको स्त्री की ओर से मिला है उसे भी वह स्त्री को लौटा दे । यदि इसी कारण स्त्री अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद करना चाहे तो पति से पाये हुए धन को वह पति को लौटा दे । किन्तु चार प्रकार के धर्म विवाहों में किसी भी दशा में तलाकसम्भव नहीं हो सकता है[2] ।

पति पत्नी का अतिचार-मना किये जाने पर भी यदि कोई स्त्री दर्पवश मद्यपान और विहार करे तो उस पर तीन पण पति के मना करने पर यदि दिन में सिनेमा देखे तो 6 पण, और यदि किसी पुरुष के साथ सिनेमा देखे, तो 12 पण जुर्माना किया जाय । यदि वही अपराध वह रात में करे तो उसको दुगुना दण्ड दिया जाय ।[3]

यदि कोई स्त्री सोते हुए अपने पति को छोड़कर घर से बाहर चली जाय अथवा पति की इच्छा के विरुद्ध घर का दरवाजा बन्द कर दे तो उसको 12 पण

1- अर्थ0 3·59·3·2 पृ0सं0 328

2- अर्थ0 3·59·3·3 पृ0 सं0328

3- अर्थशास्त्र 3·59·3·4 पृ0सं0 328

दण्ड देना चाहिए । यदि कोई स्त्री अपने पति को रात में घर से बाहर कर दे तो उस स्त्री पर चौतीस पण का दण्ड किया जाय ।[1]

पर पुरुष या परस्त्री परस्पर मैथुन के लिए यदि इशारेबाजी करे या एकान्त में अश्लील बातचीत करे तो स्त्री पर चौबीस पण, और पुरुष पर अड़तालीस पण का जुर्माना किया जाय ।[2]

यदि वे परस्पर केश, तथा कमर पकड़े एक दूसरे को चूमे, दाँत या नाखून गड़ावे तो इस अपराध में स्त्री को पूर्व साहस दण्ड और पुरुष को उससे दुगुना दण्ड दिया जाय ।[3] किसी संकेत स्थान में यदि वे परस्पर बातचीत करें तो आर्थिक दण्ड की जगह उस पर कोड़े लगाये जाँय, इस प्रकार की भयसाधिनी स्त्री के किसी एक ही अङ्ग पर गाँव के चण्डाल द्वारा पाँच कोड़े लगवाये जाय, पण दण्ड अदा करने पर प्रहार दण्ड कम कर दिया जाय ।[4]

अतिचार पर प्रतिषेध वर्जित करने पर यदि कोई स्त्री तथा पुरुष छोटी मोटी उपहार की वस्तुएँ देकर परस्पर उपहार करे तो तो छोटे उपहार पर स्त्री को 12 पण, और बड़े उपहार पर चौबीस पण दण्ड दिया जाय । यदि उपहार में

1- अर्थशास्त्र 3·59 3·1 पृ0 सं0 329

2- अर्थशास्त्र " 2 "

3- अर्थशास्त्र " 3 "

4- अर्थशास्त्र 3·59·3· 4· पृ0सं0 329

वह सोने की कीमती चीजें दे तो उसे चौबीस पण का दण्ड दिया जाय। इन अपराधों को यदि पुरुष करे तो उस पर स्त्री से दुगुना दण्ड दिया जाय। यदि वे स्त्री पुरुष बिना मुलाकात किये ही उपहार की चीजे लेते देते रहें तो पूर्वोक्त दण्ड उन्हें दिया जाय।[1]

राज्य के प्रति बगावत करने पर, आचार का उल्लंघन करने पर और अबारा गर्द होने पर कोई भी स्त्री, अपना स्त्रीधन, दूसरी शादी करने पर निर्वाह के लिए प्राप्त हुआ धन और दहेज में मिला हुआ धन आदि ' अधिकारिणी नहीं हो सकती।[2]

स्त्रियों का घर से बाहर जाना पति घर से भागी हुई स्त्री पर छह पण का दण्ड किया जाय, किन्तु यदि वह किसी भय के कारण भागे तो अदण्ड समझी जाय। पति के रोकने पर भी यदि कोई स्त्री घर से भाग निकले तो उस पर 12 पर्ण दण्ड दिया जाय, यदि वह पड़ोसी के घर में चली जाय तो उसे छह पण का दण्ड दिया जाय।[3]

पति के आज्ञा के बिना पड़ोसी को अपने घर में पनाह देने, भिखारी को भीख देने और व्यापारी को किसी तरह का माल देने वाली स्त्री को 12 पण दण्ड दिया जाय, यदि कोई स्त्री निषिद्ध व्यक्तियों के साथ यही व्यवहार करे तो

1- अर्थ0 3·59·3·5 पृ0 सं0 330

2- अर्थ0 3·59·3·2 पृ0 सं0 330

3- अर्थ0 3·60·4 । पृ0 सं0 331

उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाय । यदि वह निर्दिष्ट सीमा के घरों से बाहर जावे तो उसे चौबीस पण दण्ड दिया जाय ।[1] विपत्तिरहित किसी पर पत्नी को अपने घर में पनाह देने वाले पर सौ पण का दण्ड दिया जाय । यदि कोई स्त्री गृहस्वामी के रोकने पर या छिपकर उसके घर में घुस जाय तो उस स्थिति में गृहस्वामी निरपराध समझा जाये ।[2]

कुछ विद्वानों का मत है कि पति से तिरस्कृत कोई स्त्री यदि अपने पति के सम्बन्धी पुरुष रहित घर में जाय या सुख सम्पन्न गाँव के मुखिया अपने धन के निरीक्षक भिक्षुकी या अपने किसी सम्बन्धी के पुरुष रहित घर में प्रवेश करे तो उसको दोषी नहीं समझा जाना चाहिए ।[3]

मृत्य बिमारी, विपत्ति, और प्रसव काल में स्त्री अपने सम्बन्धियों के यहाँ जा सकती है ।[4]

ऊपर कहे गये अवसरों पर यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाने से रोके तो वह 12 पण दण्ड का अधिकारी है । यदि कोई स्त्री जाकर भी अपने जाने की बात को छिपाये, तो उसका स्त्रीधन जब्त कर

1- अर्थ० 3·60 4· 2 पृ० सं० 33।

2- अर्थ० 3·60 4·3 पृ० सं० 33।

3- अर्थ० 3·6·4 । पृ०सं० 332

4- अर्थ० 3·60 4·3 पृ०सं० 332

लिया, यदि सम्बन्धी लोग लेने देन के डर से ऐसे अवसरों की सूचना दे तो उनको वर की ओर से अवशिष्ट देय धन न दिया जाय।[1] रास्ते में किसी परपुरुष के साथ स्त्री का चलना- पति घर से भागकर दूसरे गाँव में जाने वाली स्त्री को 12 पण का दण्ड दिया जाय और उसके नाम से जमा पूँजी तथा उसके आभूषणादि जब्त कर लिये जाय। यदि वह मैथुन के लिए किसी पुरुष का सहवास करे तो उस पर चौबीस पण दण्ड दिया जाय और यज्ञ यागादि कर्मों में उसको सहधर्मिणी के अधिकार से वन्चित किया जाय, किन्तु यदि वह घर के भरण पोषण या दूसरी जगह में रहने वाले पति के समीप ऋतुगमन के लिए जाय तो उसे अपराधिनी न माना जाय यदि उच्च वर्ण का व्यक्ति इस अपराध को करे तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाय, और निम्न वर्ण के व्यक्ति को मध्यम साहस दण्ड। भाई इस अपराध को करे तो दण्डनीय नही होता। यदि निषेध किये जाने के बाद वह इस अपराध को करे तो उसे आधा दण्ड दिया जाय।[2] फिर यदि कोई स्त्री मार्ग जंगल या किसी गुप्त स्थान में अथवा किसी सन्दिग्ध या वर्जित पुरुष के साथ मैथुन के लिए घर से भाग निकले तो उसे गिरफ्तार कर अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाय।[3]

1- अर्थ0 3·60 4·30 पृ0सं0 332

2- अर्थ0 3·60 4·1·पृ0सं0 333

3- अर्थ0 3·60 4·2 पृ0सं0 333

गाने बजाने वाले वह नर्तक, मछियारे शिकारी, कलवार तथा इसी प्रकार के वे पुरुष जो स्त्रियों के साथ को साथ रखते हो । उनके साथ जाने में स्त्री को कोई दोष नहीं । मना करने पर यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को साथ ले जाय या स्त्री ही स्वयं किसी पुरुषके साथ चली जाय, तो उन्हें आधा दण्ड दिया जाय ।[1]

विवाहविच्छेद की व्यवस्था नियम के अन्तर्गत होने के बावजूद भी स्त्रीयों को झेलपाना दुष्कर है क्यों कि समानता के दृष्टिकोण से पुरुषों की अपेक्षा कम अधिकार प्राप्त है जो स्त्रियां समाज में विवाह विच्छेद के नियम का पालन करती थीं वे और निम्न दृष्टिकोण से देखी जाती थी । हिन्दू धर्म शास्त्रकारों ने पुरुषों के अधिकार को स्वीकार करके स्त्रियों के अधिकार अस्वीकार एकाङ्गी नियम बनाये जिससे स्त्री पुरुष की समान स्थिति नहीं बन सकी, स्मृतिकारों पतित्यक्ता स्त्रियों की आलोचना की है । मनु ने तो यहाँ तक कह डाला कि पति में चाहे जो दुर्गुण हो किन्तु उनकी पूजा पत्नी को देवता के समान करनी चाहिए । अत. ये कथन इस बात क ी तरफ इंगित करते हैं कि पति अपने मन के मुताबिक अपनी पत्नी को त्याग सकता है,कि पत्नी ऐसा नहीं कर सकती है उसके लिए अनेक बन्धनों की व्यवस्था की की गई है उसे पुरुष की तरह स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त है मात्र एक उद्देश्य पति सेवा ही है ।

अतः यह कहा जा सकता है कि समाज की समस्त व्यवस्थायें नारी जगत के लिए शुभचिन्तक नहीं थीं । क्योंकि धर्मशास्त्रकारों द्वारा विहित सारे नियम निरंकुश एवं भेदभाव से युक्त थे,जिनमें स्त्री की आकांक्षाओं और कामनाओं के लिए कोई भी ध्यान नही दिया गया था ।

1- अर्थ0 3·60 4·3 पृ0सं0 333

ई चतुर्थ अध्याय ई

धर्मग्रन्थों में उत्तराधिकार की अवधारणा और तत्सम्बन्धी विमर्श

"धर्मग्रन्थों में उत्तराधिकार की अवधारणा और तत्सम्बन्धी विमर्श"

दाय का अर्थ -

सम्पत्ति के लिए प्राचीन वैदिक साहित्य में दाय शब्द प्रयुक्त हुआ है। तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में दाय "पैतृक-सम्पत्ति" या केवल "सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नामानेदिष्ठ की गाथा में आया है कि "मनु ने अपना दाय अपने पुत्रों में बाँट दिया।"[1] यहाँ दाय का अर्थ धन है। ताण्ड्य ब्राह्मण में आया है -पुत्रों में जो धन का अधिक भाग या श्रेष्ठ भाग दाय के रूप में ग्रहण करता है, उसी को लोग ऐसा पुत्र मानते हैं जो सबका स्वामी होता है।[2] सूत्रों तथा स्मृतियों में दाय के रूप में आने वाला एक दूसरा शब्द "रिक्थ" भी ऋग्वेद में आया है। इस प्रकार प्राचीन काल में सम्पत्ति के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वास्तविक रूप से दाय का अर्थ है -सम्पत्ति। दाय-भाग का अर्थ हुआ सम्पत्ति-विभाजन।

दायभाग नामक व्यवहार-पद में दो मुख्य विषयों-विभाजन एवं दाय का निरूपण किया गया है। लगभग एक सहस्र वर्षों से दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध

1- मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। तै०सं० 3/1/9/4

2- तस्माद्य पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यन्ते यमेवेदं भविष्यतीति।
ताण्ड्य० 10/4/3-4

रहे हैं, जो मिताक्षरा एवं दाय भाग नाम से जाने जाते रहे हैं, क्योंकि इन नामों वाले दो ग्रन्थों के ही प्रमुखता ग्रहण की। दायभाग-पद्धति बंगाल तथा आसाम में प्रचलित है और मिताक्षरा पद्धति भारत के अन्य प्रान्तों में प्रचलित है। किन्तु आधुनिक काल में बंगाल के कुछ कुलों में मिताक्षरा-पद्धति प्रचलित हो गयी है।

दाय भाग सम्प्रदाय के मुख्य संस्कृत-ग्रन्थ तीन हैं -

1- जीमूत वाहन का दायभाग

2- रघुनन्दन का दायतत्व

3- श्रीकृष्ण तर्कालंकार का दायक्रम संग्रह।

मिताक्षरा सम्प्रदाय चार उपसम्प्रदायों में बंटा है, जिनमें प्रमुख ग्रन्थ मिताक्षरा के अतिरिक्त कुछ पूरक ग्रन्थ भी हैं जो उसके सिद्धान्तों को रूपान्तरित भी करते हैं जैसे -

1- वाराणसी सम्प्रदाय - इसका मुख्य ग्रन्थ है - वीरमित्रोदय

2- मिथिला सम्प्रदाय - इसका प्रमुख ग्रन्थ है - विवादरत्नाकर, विवादचन्द्र एवं विवाद चिन्तामणि।

3- महाराष्ट्र या बम्बई सम्प्रदाय - इसका प्रमुख ग्रन्थ है - व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय एवं निर्णयसिन्धु।

4- द्रविण या मद्रास सम्प्रदाय- इसका प्रमुख ग्रन्थ है - स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहार निर्णय, पराशरमाधवीय एवं सरस्वतीविलास ।

इन उपसम्प्रदायों के कारण कुछ प्रान्तों में नियमों का अन्तर अवश्य है, किन्तु बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में मिताक्षरा की प्रमुखता रही है ।

मिताक्षरा विधि में दाय प्राप्त करने का आधार रक्त-सम्बन्ध है, जबकि दायभाग विधि में दाय प्राप्त करने का आधार पिण्डदान है । किन्तु मिताक्षरा विधि में भी पिण्डदान की विचारधारा को पूर्णतया उपेक्षित नहीं किया गया है । जहाँ रक्तसम्बन्धियों के मध्य कोई मामला उत्पन्न हो जाता है वहाँ पिण्डदान की विचारधारा से सहायता ली जाती है ।[1] मिताक्षरा-विधि में सम्पत्ति के न्यागमन के लिए दो रीतियाँ अपनाई गयीं -

(1) उत्तरजीविका (2) उत्तराधिकार

दायभाग में न्यागमन की केवल एक ही रीति है - (1) उत्तराधिकार ।

उत्तराधिकार में किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद ही स्वामित्व प्राप्त हो जाता है । उस व्यक्ति की मृत्यु के पहले

1- बुद्धा सिंह बनाम लल्तू सिंह

1915, पी०सी० 70 ।

उसकी सम्पत्ति में कोई हक किसी को प्राप्त नहीं होता, जब कि उत्तरजीविता में उत्तरजीवी को गत स्वामी की मृत्यु के पहले ही हक प्राप्त हो जाता है।

विभाग (विभाजन) की परिभाषा मिताक्षरा में इस प्रकार दी गई है - "जहाँ संयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागों की निश्चित व्यवस्था ही विभाग है"।[1]

मिताक्षरा के अनुसार पुत्र पैतृक सम्पत्ति का रिक्थाधिकारी जन्म से ही हो जाता है। जब कि दायभाग के अनुसार जन्म से ही स्वामित्व उत्पन्न नहीं होता। मिताक्षरा के अनुसार पुत्रोत्पत्ति समांशिता या सहभागिता को उत्पन्न कर देती है, किन्तु दायभाग के अन्तर्गत पिता एवं पुत्रों में समांशिता नहीं पायी जाती, क्योंकि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार नहीं प्राप्त होता, यद्यपि पैतृक सम्पत्ति की सत्ता भाइयों या चाचाओं एवं भतीजों के बीच उपस्थित रहती है। दायभाग के अन्तर्गत किसी व्यक्ति की मृत्यु उसके पुत्रों की सहभागिता आरम्भ कर देती है।

1- विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणाम-
नेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।

मिताक्षरा (याज्ञ02/114)

विभाजन सम्बन्धी पुत्र के अधिकार का विकास युगों की क्रमिक गति में पाया जाता रहा है । अति प्राचीन काल में जब कि कुलपति सत्तात्मक परिवार प्रचलित था, पिता का पुत्र पर एक सत्तात्मक अधिकार था । पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का कर्तव्य था, परिवार की सम्पत्ति का विघटन नहीं होता था । सभी की अर्जित सम्पत्तियों पर पिता का शासन था और स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं था । इस विषय पर वैदिक साहित्य मे भी धुँधला सा प्रकाश मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण के युग में ऐसा विश्वास था कि प्राचीन काल में पुत्र पर पिता को सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त था । काठक-संहिता में आया है कि पिता पुत्र पर राज्य करता है (पिता पुत्रस्येशे) । ऐतिहासिक कालों में भी पिता का पुत्र पर अधिकार परिलक्षित होता रहा है । निरुक्त ने अपने पूर्व के लोगों की उक्ति दी है कि पुत्रियाँ पिता के धन का उत्तराधिकार नहीं पातीं, क्योंकि " उनका दान, विक्रय एवं त्याग हो सकता है, किन्तु पुरुषों का ऐसा नहीं होता ।[1] किन्तु अन्य लोगों के मत से पुरुषों के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जा सकता है । वशिष्ठ का कथन है कि- "माता-पिता को अपने पुत्र का दान, विक्रय एवं त्याग करने का अधिकार है ।[2] "

1- "स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः ।

निरुक्त (3/4)

2- तस्य (पुरुषस्य) प्रदान विक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः ।

वाशिष्ठ (15/2) ।

दूसरी ओर ऋग्वेद से ऐसा प्रमाण मिलता है कि पुत्रों ने पिता की वृद्धावस्था में ही उसकी सम्पत्ति विभाजित कर ली, यथा-"हे अग्नि,लोग तुम्हे बहुत स्थानों में कई प्रकार से पूजित करते है और सम्पत्ति उसी प्रकार ग्रहण करते है जिस प्रकार बूढ़े बाप से । " ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के सबसे छोटे पुत्र नामानेदिष्ठ की कथा से प्रकट होता है कि सभी बड़े भाइयों ने पिता के रहते सारी सम्पत्ति अपने में बाँट ली और उसे सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया, किन्तु उसेने कोई विरोध नहीं किया । तैत्तिरीय संहिता, गोपथ ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के दृष्टान्तों से यह स्पष्ट होता है कि पुत्र पिता के रहते और उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्पत्ति विभाजित करते थे, किन्तु यह कुछ विरले अवसरों पर ही होता था - सामान्य रूप से तो पिता की इच्छानुसार या पिता की मृत्यु के बाद ही सम्पत्ति विभाजित होती थी ।

अब स्मृतियों एवं मध्यकालीन लेखकों के विभाजन काल सम्बन्धी नियमों का विचार करना चाहिए । एक समय वह था जब कि पिता जीवन-काल में ही पुत्रों में सम्पत्ति-विभाजन करता था । दूसरा समय था पिता की मृत्यु के उपरान्त । दायभाग में इन्हीं दोनों समयों को मान्य ठहराया है , अर्थात्, पिता के स्वामित्व की समाप्ति पर तथा पिता के जीवन काल में उसकी इच्छा के अनुसार । पिता के स्वामित्व की समाप्ति पर से तात्पर्य है - पिता की मृत्यु पर या सन्यासी होने पर या सारी इच्छा नष्ट हो जाने पर । जीमूतवाहन जैसे कुछ लेखक बहुत आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं कि पिता की मृत्यु के उपरान्त

माता के जीवन काल तक भी पुत्रों के बीच सम्पत्ति विभाजन नहीं होना चाहिए ।

पिता के जीवन-काल में विभाजन सम्बन्धी पुत्र की माँग को प्राचीन काल के कुछ धार्मिक मनोभावों से प्रेरणा मिली । गौतम ने लिखा है कि यदि संयुक्त न रहकर भाई पृथक् हो जाय तो धार्मिक श्रेष्ठता की वृद्धि होती है §विभागे तु धर्मवृद्धिः§ । मनु ने कहा है कि -वे संयुक्त रह सकते हैं या यदि धर्मवृद्धि चाहें तो पृथक भी रह सकते हैं, पृथक रहने से धर्म-वृद्धि होती है अतः विभाजन महत्वकारी है । विभाजन होने पर अलग अलग घरों में धार्मिक कृत्य होने लगते हैं यही कारण है कि धार्मिक वृद्धि होती है ।

सामान्यतः बालिग होने पर ही विभाजन होता था, किन्तु कौटिल्य,[1] बौधायन[2] एवं कात्यायन[3] से प्रकट होता है कि अप्राप्तव्यवहारता विभाजन के लिए बन्धन नहीं था ।

वयस्कता की आयु -

प्राप्त व्यवहारता § वयस्कता§, सोलहवें वर्ष के प्रारंभ में होती है या उसके अन्त में, इस विषय पर मतभेद है । नारद के अनुसार

1- कौटिल्य § 3/5 §

2- बौधायन § 2/2/42§

3- कात्यायन §844/45§

सोलहवें वर्ष तक व्यक्ति अवयस्क रहता है मिताक्षरा द्वारा उद्धृत अंगिरा एवं गोतम के वचनों से पता चलता है कि व्यक्ति सोलहवें वर्ष के आरम्भ तक बाल रहता है । कात्यायन के अनुसार बाल्यावस्था सोलहवें वर्ष के आरम्भ में समाप्त हो जाती है । इन सम्पूर्ण दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में वयस्कता की आयु सोलह वर्ष ही रही होगी । आजकल वयस्कता की आयु अठारवें वर्ष मानी जाती है किन्तु कुछ मामलों में यह सीमा इक्कीसवें वर्ष हो जाती है ।

सम्पत्ति के प्रकार -

सम्पत्ति दो प्रकार की होती है - स्थावर (अचल) एवं जंगम (चल)। याज्ञवल्क्य तथा कुछ स्मृतियों में इसके तीन प्रकार बताये गये हैं- भू, निबंध एवं द्रव्य । भू = भूमिखण्ड या घर, निबंध = रुपये पैसे या अन्न या अन्य वस्तुओं के रूप में जो आवधिक शुल्क के रूप में मिलता है यजमान-वृत्ति भी निबन्ध ही है । द्रव्य = सोना, चाँदी या अन्य चल सम्पत्ति । कभी-कभी द्रव्य शब्द सभी प्रकार की सम्पत्तियों का द्योतक माना गया है - चाहे वे चल हों, या अचल ।[1] प्राचीन भारतीय व्यवहार (कानून) के अनुसार सम्पत्तियाँ दो कोटियों में बाँटी गयी हैं- संयुक्त कुल-सम्पत्ति तथा पृथक् सम्पत्ति ।

1- द्रव्येपितामहोपात्ते जंगमे स्थावरे तथा बृहस्पति ।

संयुक्त हिन्दू परिवार -

एक संयुक्त हिन्दू परिवार में वे सभी पुरुष आते है जो किसी एक पुरुष पूर्वज के उत्तराधिकारी होते हैं। उनके साथ उनकी पत्नियाँ एवं कुमारी कन्यायें भी सम्मिलित रहती हैं। विवाहोपरान्त कन्या पिता के परिवार की न होकर अपने पति के परिवार की सदस्य हो जाती है। मिताक्षरा के अन्तर्गत समांशी परिवार संयुक्त परिवार से अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ रखता है। इसमें केवल वे ही पुरुष सदस्य सम्मिलित होते हैं जो जन्म से ही संयुक्त अथवा समांशी का अधिकार रखते हैं - यथा - स्वयं व्यक्ति, उसके पुत्र, उसके पुत्रों के पुत्र, पुत्रों के पौत्र। विभाजन में भाग लेने की योग्यता जन्म से अधिकार रखने वाले पुरुष स्वामी से चौथी पीढ़ी तक पायी जाती है।

सहभागिता -

मिताक्षरा द्वारा उपस्थापित सहभागिता के कुछ विशिष्ट लक्षण, संक्षेप में निम्न हैं।

प्रथम बात यह है कि उसमें स्वामित्व की एकता पायी जाती है अर्थात् सभी सहभागी एक साथ स्वामी होते हैं। कोई सदस्य परिवार के अविभाजित रहते यह नहीं कह सकता है कि उसका कोई निश्चित भाग है, क्यों कि उसका सम्पत्ति भाग मृत्युओं से बढ़ सकता है जन्मों से घट सकता है। द्वितीय

विशेषता है भोग एवं प्राप्ति की एकता अर्थात् सभी को कुल-सम्पत्ति के भोग एवं स्वामित्व का अधिकार है । तृतीय बात यह है कि जब तक परिवार संयुक्त है और कुछ हिस्सेदारों के बहुत बाल-बच्चे हैं, कुछ के कोई नहीं है या कुछ लोग अनुपस्थित हैं तो विभाजन के समय कोई यह नहीं कह सकता कि कुछ लोगों ने सम्पत्ति खाली कर दी और न यही पूछा जा सकता है कि आय-व्यय का ब्यौरा क्या रहा है । चतुर्थ विशेषता यह है कि किसी सहभागी की मृत्यु पर उसका भाग समाप्त हो जाता है और अन्यों को प्राप्त हो जाता है किन्तु यदि मृत व्यक्ति के पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हों तो उन्हें विभाजन के समय भाग मिलते हैं । स्त्री को सहभागिता नहीं प्राप्त होती चाहे वह पत्नी हो या माता । पंचम विशेषता यह है कि प्रत्येक सहभागी विभाजन की माँग कर सकता है । कुल कार्यों का व्यवस्था पिता करता है । यदि वह बूढ़ा हो या मर जाय तो ज्येष्ठ पुत्र करता है । आजकल ऐसे व्यवस्थापक को कहीं-कहीं कर्ता कहा जाता है, किन्तु स्मृतियों एवं निबन्धों में से कुटुम्बी (याज्ञ० 2/45) गृही, गृहपति, प्रभु (कात्या० 543) की संज्ञाएँ मिली हैं । इसे आपत्तिकाल में परिवार के कल्याण के लिए तथा विशेषतः श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों में बन्धक रखने बेचने, दान देने आदि का अधिकार प्राप्त रहता है । पिता को व्यवस्थापक का अधिकार एवं कुछ अन्य विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं जो किसी सहभागी को प्राप्त नहीं होते । पिता यदि चाहे तो पुत्रों को अपने से या उनकी इच्छा न रहते हुए भी अलग कर सकता है किन्तु कोई अन्य सहभागी ऐसा नहीं कर सकता, वह यदि चाहे तो अपने को सहभागियों से अलग

कर सकता है। मिताक्षरा के मत से कोई सहभागी बिना अन्य सहभागियों की सहमति के अविभाजित भाग को दान, बिक्री या बन्धक के रूप में नहीं दे सकता है। यह बात बृहस्पति ने भी कही है। आधुनिक काल में सहभागी अपना भाग बन्धक के रूप में दे सकता है। संयुक्त परिवार के सदस्यों का एक अधिकार यह भी है कि वे अपनी जीविका के लिए संयुक्त सम्पत्ति पर अपना अधिकार रखते हैं।

दायभाग के अन्तर्गत पूर्वोक्त विषयों में मिताक्षरा से सर्वथा भिन्न मत पाया जाता है। इसके अनुसार पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से अधिकार प्राप्त नहीं होता, वे पिता की मृत्यु के उपरान्त ही सर्वप्रथम दाय के अधिकारी होते हैं। स्पष्ट है इसमें मिताक्षरा के अर्थ में, पिता एवं पुत्रों के बीच किसी प्रकार की सहभागिता नहीं पायी जाती। पिता को पैतृक सम्पत्ति बेच देने, बन्धक रखने, दान में देने या इच्छानुसार किसी भी प्रकार उसे व्यय कर देने का सम्पूर्ण अधिकार है। उसके जीवन काल तक पुत्रों को विभाजन के लिए माँग करने का कोई अधिकार नहीं है। पिता के मर जाने के बाद उसके पुत्रों या पौत्रों मे सहभागिता का उदय होता है। यदि कोई सहभागी पुत्रहीन मर जाता है तो अन्य सहभागियों को उसका अधिकार नहीं मिलता, प्रत्युत मृत व्यक्ति की विधवा या पुत्री उसका भाग प्राप्त कर सकती है। अतः दायभाग के अन्तर्गत स्त्रियों को सहभागिता की सदस्यता प्राप्त हो जाती है।

विभाजन के समय यदि लड़का गर्भ में हो और विभाजन हो रहा हो तो उसे स्मृतियों ने अधिकार दे रखा है । यदि क तथा उसके पुत्र ख एवं ग विभाजन करें और परिवार की सम्पत्ति का एक तिहाई प्रत्येक को मिले और छः मास के उपरान्त यदि क की पत्नी को घ पुत्र उत्पन्न हो जाय तो विभाजन-कार्य फिर से होगा और उसे कुल सम्पत्ति का 1/4 भाग " यदि माता को भाग मिला हो तो केवल 1/5 भाग§ मिलेगा, किन्तु इस अवधि में हुए सारे आय-व्यय का ब्योरा ले लेने के उपरान्त ही बँटवारा होगा ।

वह दत्तक पुत्र जो संयुक्त परिवार के किसी सहभागी द्वारा गोद लिया जाय या किसी एक मात्र भागी द्वारा गोद लिया जाय मिताक्षरा व्यवहार के अनुसार सहभागिता का सदस्य हो जाता है तथा औरस पुत्र के समान ही विभाजन की माँग का अधिकारी होता है । दायभाग के अन्तर्गत पिता के रहते औरस पुत्र को विभाजन का अधिकार नहीं प्राप्त रहता, दत्तक पुत्र की तो कोई बात ही नहीं है ।

पिता से हीन जाति की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र एवं पुत्रों के अधिकारों के विषय में मनु, याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति के अनुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारों जातियों से पुत्र हों तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बंट जाती है - ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्रों को चार भाग, क्षत्रिय पत्नी के पुत्रों को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रों को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रों को दो भाग तथा शूद्रा पत्नी के पुत्रों को एक भाग मिलता है ।

पत्नी को विभाजन की माग का कोई अधिकार नहीं है । किन्तु याज्ञवल्क्य के मत से यदि पिता के रहते पुत्र विभाजन की माग करें तो पत्नी को पुत्र के समान ही एक भाग मिलता है । यदि कई पत्नियाँ हों तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर का भाग मिलता है । ऐसी व्यवस्था है कि पत्नी या पत्नियाँ पति या श्वसुर द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन की सम्पत्ति पर भोग का अधिकार नहीं रखतीं, किन्तु यदि स्त्रीधन हो तो उन्हें उतना ही और अधिक प्राप्त होगा जितना मिलकर एक पुत्र के भाग के बराबर हो जाय । मिताक्षरा के अनुसार पति की इच्छा से पत्नी कुल सम्पत्ति का भाग पा सकती है किन्तु अपनी इच्छा से नहीं । बात यह कि वास्तव में पति- पत्नी में विभाजन नहीं होता ।

"जायापत्योर्न विभागो विद्यते"

माता भी पिता के मृत हो जाने के उपरान्त पुत्रों दाय विभाजन के समय एक बराबर भाग की अधिकारिणी होती हैं, किन्तु जब तक पुत्र संयुक्त रहते हैं, वह विभाजन की माँग नहीं कर सकती । किन्तु पत्नी के समान ही यदि उसके पास स्त्रीधन होगा तो उसका दायभाग उसी के अनुपात में कम हो जायगा। कुछ के अनुसार माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते हैं । बौधायन ने लिखा है कि "स्त्रियाँ शक्तिहीन होती हैं और उन्हें भाग नहीं मिलता ।

दायभाग से वञ्चित -

कतिपय शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आचरण-सम्बन्धी दुर्गुणों के कारण प्राचीन भारत में कुछ लोग दायभाग से वञ्चित थे। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु एवं बौधायन के अनुसार पागल, जड, क्लीब, पतित, अन्धे असाध्य रोगी और सन्यासी रिक्थाधिकार से वञ्चित माने जाते हैं।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस प्रकार की व्यवस्था थी। हम लोग महाभारत से जानते हैं कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण राज्य नहीं पा सके और उनके छोटे भाई पाण्डु को राज्य मिला। मनु का कथन है कि क्लीब, पतित, जन्मान्ध जन्मबधिर, पागल मूर्ख, गूँगे एवं इन्द्रियदोषी को अंश नहीं मिलता।[2] सभी स्मृतियों का कहना है कि जिन्हें दोषों के कारण दयांश नहीं मिलता उन्हें कुल-सम्पत्ति से जीवन भर जीविका के साधन प्राप्त होते हैं।

1- जडक्लीबौ भर्तव्यौ। (गौ0-28/41)

एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा जीवन् पुत्रेभ्योदायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य। आपस्तम्ब(2/6/14/1) अतीतव्यवहारान्ग्रासाच्छाद नैर्बिभृयुः। अन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितांश्च। अकर्मिणः। पतिततज्जातवर्जम्।

बौधा0 (2/2/43/46)

2- अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः।।

मनु0 (9/201)

<u>ज्येष्ठ पुत्र की स्थिति -</u>

जेष्ठ पुत्र को प्राचीन काल से अब तक विशिष्टता मिलती रही है। यह विशिष्टता कई रूपों में प्रकट होती रही है । कुछ मतों से जेष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी । मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ-ऋण से मुक्त करता है, अतः वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है । यद्यपि जेष्ठ पुत्र को अधिक भाग या सम्पूर्ण सम्पत्ति देना सामान्यतः बन्द हो गया, किन्तु इसके चिह्न आज तक भी देखने में आते हैं । कहीं-कहीं परम्पराओं के आधार पर अधिक भाग (ज्येष्ठांश या मोप्य) भी विभाजन के समय दिये जाते रहे हैं ।

मनु के मत से यदि जेष्ठ भ्राता लोभ वश छोटे भाइयों को उनके भाग से वंचित करता है, तो उसे उसका विशिष्ट भाग नहीं मिलता और वह राजा द्वारा दण्डित होता है । मनु के इस कथन से स्पष्ट है कि संयुक्त सम्पत्ति को छिपाना या किसी का भाग मारना गर्हित समझा गया है ।

इन सम्पूर्ण उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में उत्तराधिकार की जो सामान्य अवधारणा थी वह यह थी कि उत्तराधिकार में पुरुष वर्ग को ही वरीयता दी जाती थी । हमारा समाज पुरुष प्रधान समाज था । यहाँ पर पितृसत्तात्मक सत्ता थी । उत्तराधिकार में स्त्रियों को कोई स्थान नहीं था

पुरुष वर्ग चौथी पीढ़ी तक उत्तराधिकारी माने जाते थे, यथा- स्वयं व्यक्ति, उसके पुत्र उसके पुत्रों के पुत्र, पुत्रों के पौत्र ।

पुत्रों के प्रकार -

मनु ने केवल 12 पुत्रों के नाम दिये हैं {9/158} । उन्होंने पुत्रिका का पुत्र को उनके साथ नहीं गिनाया है यद्यपि उन्होंने अन्यत्र पुत्रिका नाम दिया है और उसे पुत्र के बराबर कहा है । इस प्रकार प्राचीन ऋषियों ने केवल 12 पुत्र ही माने हैं । पुत्रों के प्रकार निम्न हैं -

{1} औरस- शास्त्र द्वारा व्यवस्थित नियमों के अनुसार विवाहित पत्नी से पति द्वारा उत्पन्न किया गया पुत्र ।

{2} पुत्रिकापुत्र- मनु ने इसे औरस के सदृश ही माना है । यह पुत्री का पुत्र होता है ।

{3} क्षेत्रज - नियोग-प्रथा से इस प्रकार के पुत्रत्व की उद्भूति हुई है ।

{4} दत्तक- गोद लिया हुआ पुत्र ।

{5} कृत्रिम - सम्पत्ति की लालच में बना हुआ पुत्र ।

{6} गूढ़ोत्पन्न- जो किसी के घर में जन्म लेता है, किन्तु उसके पिता का पता नहीं होता वह उसी का होता है जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न होता है ।

{7} अपविद्ध - जो अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिया गया हो और जिसे कोई अपने पुत्र के समान ही ग्रहण किया हो ।

{8} कानीन - जिसे अविवाहित कन्या अपने पिता के घर गुप्त रूप से जनती है ।

§9§ सहोढ - उस स्त्री का पुत्र जो विवाह के समय गर्भवती रहती है ।

§10§ क्रीत - खरीदा हुआ पुत्र ।

§11§ पौनर्भव - पुनर्विवाहित स्त्री का पुत्र ।

§12§ स्वयंदत्त - जो अपने माता-पिता के नष्ट होने जाने पर या उनके द्वारा व्यक्त होने पर स्वयं अपने को किसी को दे देता है ।

§13§ पारशव या शौद्र- जो किसी ब्राह्मण द्वारा विषयासक्त होने पर किसी शूद्रा पत्नी से उत्पन्न किया जाता है, पराशव कहलाता है, क्योंकि वह जीवित रहते भी शव के समान है ।

पंचम अध्याय

अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम और तत्सम्बन्धी निर्णय

"अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम और उनका आलोचनात्मक विश्लेषण"

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार के सामान्य नियम इस प्रकार थे -

माता-पिता या केवल पिता के जीवित रहते लड़के सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते हैं। उनके न रहने पर लड़के आपस में सम्पत्ति का बंटवारा कर सकते हैं, जो सम्पत्ति किसी लड़के ने स्वयं अर्जित की है उसका बंटवारा नहीं होता है, यदि वह सम्पत्ति पिता का धन खर्च करके उपार्जित हो तो उसका बंटवारा हो सकता है।[1]

यह नियम प्राचीन काल से लेकर अब तक मान्य रहा है इसमें भेद यह है कि प्राचीन काल में संयुक्त परिवार की सभी सम्पत्तियों का बंटवारा होता था। आज भी यदि कोई लड़का स्वयं कोई अचल सम्पत्ति अपने पिता के नाम से खरीदता है तो उस सम्पत्ति पैतृक सम्पत्ति के समान विभाग की जाती है।

1- अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषां ऊर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्। स्वयमार्जितमविभाज्यम् अन्यत्र पितृद्रव्या- दुत्थितेभ्यः।

कौटिल्य - 3/5

संयुक्त परिवार में रहने वाले पुत्रों के पुत्र-पौत्र आदि चौथी पीढ़ी तक अविभाजित पैतृक सम्पत्ति में बराबर के हकदार है । किन्तु यह जरूरी है कि उनकी वंश परम्परा खण्डित न हुई हो । यदि वंश परम्परा खण्डित हो गई हो तो उस दशा में सभी मौजूद भाई पैतृक सम्पत्ति सम्पत्ति का बराबर का हिस्सा करें ।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित यह व्यवस्था हिन्दू विधि की सहदायिकी से मेल खाती है । यही वस्तुस्थिति, मनु, कात्यायन और याज्ञवल्क के विचारों से भी बनती है ।

जिन भाइयों को पिता की सम्पत्ति न प्राप्त न हुई हो, अथवा जो भाई बटवारा हो जाने के बाद भी एक साथ कमाते-खाते हों, वे फिर से सम्पत्ति का विभाग कर सकते हैं । जिस भाई के कारण संपत्ति की अधिक वृद्धि हुई हो वह बटवारे के समय दो हिस्सा ले सकता है ।[2] प्राचीन काल में कुछ धर्मग्रन्थों में यह बातपायी जाती है, किन्तु आधुनिक कालमें यह परम्परा बिल्कुल समाप्त हो गयी है। इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम-1956 में नहीं दिखायी पड़ती । समाज में जो प्रचलित है वह-यह है

1- पितृद्रव्यादविभक्तोपगतां पुत्राः पौत्रा वा आ चतुर्थादित्यंशभाजः । तावदविच्छिन्नः पिण्डो भवति । विच्छिन्नपिण्डाः सर्वे समं विभजेरन् ।- कौटिल्य-3/

2- अपितृद्रव्या विभक्तपितृद्रव्या वा सहजीवन्तः पुनर्विभजेरन् । यतश्चोत्तिष्ठेत स द्व्यंशं लभेत । कौटिल्य 3/5

कि जो भाई अपनी निजी-सम्पत्ति बनाता है वह या तो स्वयं ले लेता है । या संयुक्त रहने वाले भाइयों में बराबर-बराबर भाग कर देता है । जिसके कोई पुत्र न हों उसकी संपत्ति उसके सगे भाई या साथी ले सकते हैं, और विवाहादि के लिए जितने धन की अपेक्षा हो कन्यायें उतना धन अपनी पैतृक सम्पत्ति में से ले लें ।[1] दायभाग में वर्णित है कि पैतृक सम्पत्ति स्वल्प होने पर भी भाई अपने भाग का चतुर्थ हिस्सा देकर उसका विवाह करता था । आधुनिक काल में यह प्रथा समाप्त हो गई है । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 के अनुसार- जिसके कोई पुत्र न हो उसकी संपत्ति पर प्रथम अधिकार उसकी पुत्री का होता है । कौटिल्य के द्वारा जो स्थिति कन्याओं की पैतृक सम्पत्ति पर दर्शायी गई थी वह न्यायसंगत नहीं था ।

सुवर्ण, आभूषण एवं नकदी आदि जो रिक्थ धन है उसके अधिकारी लड़के हैं, लड़कों के अभाव में वे लड़कियाँ रिक्थधन की अधिकारिणी है, जो धर्म-विवाहों से पैदा हुई हैं । लड़कियों के अभाव में मृतक पुरुष का जीवित पिता, पिता के अभाव में पिता के सगे भाई और उनके अभाव में भी उनके पुत्र उस सम्पत्ति के हकदार हैं ।[2] आधुनिक युग में कौटिल्य का यह सिद्धान्त मान्य है ।

1- द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च । — कौटिल्य - 3/5

2- रिक्थं पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः । तदभावे पिता धरमाणः पित्रभावे भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च । कौटिल्य 3/5

मृतक पिता के यदि बहुत से भाई और उन भाइयों के भी कई पुत्र हों तो वे पिता की सम्पत्ति का बराबर बँटवारा करें।[1]

एक ही माता से अनेक पिताओं द्वारा पैदा हुए लड़कों का दाय-विभाग पिता के क्रम से होना चाहिए।[2]

मृतक के भाइयों के पुत्रों में यदि उनका पिता जीवित हो और कुटुम्ब के भरण- पोषण के लिए कर्जा लिया हो तो उस कर्जे को वही चुकता करे उसके अभाव में बड़ा पुत्र और उसके अभाव में छोटा पुत्र कर्जा अदा करे।[3]

पिता यदि अपने जीवित रहते हुए अपनी अपनी सम्पत्ति का बटवारा करना चाहता है तो वह किसी एक पुत्र को अधिक हिस्सा न दे। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह किसी पुत्र को अकारण हिस्सेदारी से भी वंचित न करे। पिता अपने पीछे यदि कुछ भी [illegible] न छोड़ जाय तो बड़े भाई का यह कर्तव्य होता है कि वह छोटे भाइयों का भरण-पोषण करें, किन्तु यदि छोटा भाई का यदि आचार-व्यवहार-भ्रष्ट हो जाय तो उसकी रक्षा के दायित्व से अपने को बरी समझे।[4]

1- अपितृका बहवोऽपि च भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च पितुरेकमंशं हरेयुः।

2- सोदर्याणामनेकपितृकाणां पितृतो दायविभागः।

3- पितृभ्रातृपुत्राणां पूर्वे विद्यमाने नापरमवलम्बन्ते, ज्येष्ठे च कनिष्ठमर्थग्राहिणः।

4- जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत। पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठाः कनिष्ठाननुगृह्णीयुः, अन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः।

कौटिल्य- 3/5

पुत्रों के बालिग हो जाने पर ही संपत्ति का बटवारा करना चाहिए । नाबालिग-पुत्र जब तक बालिग न हो जाय और विदेश गये पुत्र जब तक वापिस न लौट आएं तब तक उसके हिस्से की सम्पत्ति को उनके मामा या गाँव के किसी वृद्ध विश्वासी पुरुष के पास सुरक्षित रख देना चाहिए ।[1] अर्थशास्त्र की पंक्ति का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि सामान्यतः बालिग होने पर ही विभाजन होता था किन्तु नाबालिग होना विभाजन के लिए बन्धन नहीं था । कात्यायन ने व्यवस्था दी है कि सांसारिक बातों की समझदारी आ जाने पर सहभागियों में विभाजन होना चाहिए और यह व्यवहारिता पुरुषों में 16 वें वर्ष में आ जाती है । जो लोग अभी अप्राप्तव्यवहार हैं उनकी संयुक्त कुल की सम्पत्ति व्यय-विवर्जित (ऋण आदि से मुक्त) करके प्राप्तव्यवहार वालों द्वारा उनके बन्धुओं या मित्रों के यहाँ रख देना चाहिए । यही बात उनके साथ भी होनी चाहिए जो बाहर चले गये हों ।[2] इन उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट ही है कि कौटिल्य की धारणा यह रही होगी कि अवयस्क की हित की सुरक्षा हर स्थिति में की जाय ।

1- प्राप्तव्यवहाराणां विभागः । अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुर्व्यवहारप्रापणात्, प्रोषितस्य वा ।

-अर्थशास्त्र (3/5)

2- संप्राप्तव्यवहाराणां विभागश्च विधीयते ।
पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता ।।
अप्राप्तव्यवहाराणां च धनं व्ययविवर्जितम् ।
न्यसेयुर्बन्धुमित्रेषु प्रोषितानां तथैव च ।। -कात्यायन (844-845)

विवाहित बड़े भाइयों का कर्तव्य है कि वे अपने छोटे अविवाहित भाइयों के विवाह के लिए खर्च दें और अपनी छोटी बहिनों के विवाह में दहेज आदि के लिए यथोचित धन दें।[1]

सभी भाइयों को चाहिए कि वे ऋण और आभूषण तथा नगदी आदि रिक्थ धन को आपस में बराबर बाँट लें।[2]

प्राचीन आचार्यों का मत है कि "दरिद्र लोग अपने पानी पीने के बर्तनों को भी आपस में बाँट लें, किन्तु आचार्य कौटिल्य के मत से "ऐसा करना छल-कपट है, क्योंकि उनके मत से- विद्यमान सम्पत्ति ही बँटवारे के योग्य होती है अविद्यमान सम्पत्ति नहीं।[3] कात्यायन ने बहुत सी वस्तुओं को अविभाज्य ठहराया है।

सम्पूर्ण सम्पत्ति इतनी है और प्रत्येक भाई का इतना-इतना हिस्सा है, यह बात साक्षियों के सामने स्पष्ट करके बँटवारा कराया जाय। यदि बटवारा

1- सन्निविष्टसममसन्निविष्टेभ्यो नैवेशिकं दद्युः। कन्याभ्यश्च प्रादानिकम्।

-कौटिल्य (3/5)

2- ऋणरिक्थयोः समो विभागः।

-कौटिल्य (3/5)

3- उदपात्राण्यपि निष्किञ्चना विभजेरन् इत्याचार्याः। छलमेतदिति कौटिल्यः। सतोऽर्थस्य विभागो नासतः।

ठीक न हुआ हो, या उस सम्पत्ति में से किसी हिस्सेदार ने कुछ चुरा लिया हो, या बटवारे के समय कोई चीज रह गई हो या बटवारे के बाद अकस्मात् ही कोई चीज अधिक आ गई हो, तो उस सम्पत्ति का फिर से बटवारा किया जाना चाहिए ।[1] साक्षियों की बात तो याज्ञवल्क, नारद, कात्यायन और वृहस्पति ने भी की है । विभाजन हुआ है या नहीं इस विषय में जानकारी के लिए याज्ञवल्क ने बन्धु-बान्धवों, मामा तथा अन्य साक्षियों की गवाहियों, लेख-प्रमाण, पृथक् हुई भूमियों या घरों को प्रमाणों के रूप में माना है । नारद और कात्यायन का कथन है कि दस वर्षों के उपरान्त ही (संयुक्त परिवार से अलग होने पर) सदस्यगण एक दूसरे से, जहाँ तक संयुक्त सम्पत्ति का प्रश्न है अलग समझे जायेंगे । - वृहस्पति का कथन है कि जहाँ साक्षी न हो और न लेख प्रमाण हों वहा विभाजन के विषय में निष्कर्ष अनुमान से निकालना चाहिए । इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विभाजन के समय साक्षियों का होना आवश्यक है ।

जिस सम्पत्ति का कोई अधिकारी न हो, उसे राजा ले लेवे । परन्तु स्त्री के जीवन-निर्वाह और श्राद्ध आदि कार्यों के लिए जितना धन आवश्यक होवे, वह छोड़ देवे । तथा श्रोत्रिय के धन को कदापि न लेवे । उस धन

1- एतावानर्थः सामान्यस्तस्यैतावान् प्रत्यंशः, इत्यनुभाष्य ब्रुवन् साक्षिषु विभागं कारयेत् । दुर्विभक्तमन्योन्यापहृतमन्तर्हितमविज्ञातोत्पन्नं वा पुनर्विभजेरन् ।

कोलेने का अधिकारी वही हो सकता है जो वेदों का जानने वाला हो और उस धन को विद्वानों को दे देवें ।[1] अर्थशास्त्र का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति राजा की होती है क्यों कि प्राचीन काल में अर्थात् मौर्यकाल में राजसत्तात्मसत्ता थी, जितने भी सम्पत्ति के स्वामी थे राजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे और उसके प्रतिफल केरूप में राजा को कर देते थे । किसी न किसी रूप में यह व्यवस्था आधुनिक काल में भी है सिर्फ अन्तर यह कि जब सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी चाहे वह पुरुष वर्ग का हो या स्त्री वर्ग का, उसके न रहने पर ही सम्पत्ति पर पूर्णरूपेण राज्य का अधिकार हो जाता है । सम्प्रति सम्पत्ति के अधिकार के विषय में कौटिल्य के समय से बहुत अधिकार सुधार हुआ है ।

पतित तथा पतित से पैदा हुए और नपुंसकों को दायभाग नहीं मिलता । सर्वथा मूर्ख,उन्मत्त,अन्धे और कोढ़ी भी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते । भार्या की सम्पत्ति होने पर, यदि उनके ॥ मूर्ख आदि जनों के ॥ लड़के उनके समान ॥ मूर्ख आदि ॥ नहीं होते, तो वे ॥लड़के॥ सम्पत्ति में दाय-भाग प्राप्त कर सकते हैं । पतितों को छोड़कर अन्य सभी ॥मूर्ख आदि॥ उस सम्पत्ति में से केवल अपने लिए भोजन, वस्त्र पा सकते हैं ।[2] अर्थशास्त्र का यदि आलोचनात्मक

1- अदायादकं राजा हरेत्स्त्रीवृत्तिप्रेतकार्यवर्जमन्यत्र श्रोत्रियद्रव्यात् । तत्त्रैविद्येभ्यः प्रयच्छेत् ।

2- पतितः पतिताज्जातः क्लीबश्चानंशाः । जडोन्मत्तान्धकुष्ठिनश्च । सति भार्यार्थे तेषामपत्यमतद्विधं भागं हरेतु । ग्रासाच्छादनमितरे पतितवर्जाः ।

विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में पतितों की स्थिति समाज के सभी वर्गों में सबसे खराब थी, क्योंकि पतित व्यक्ति को सम्पत्ति में दाय-भाग की बात तो दूर थी उन्हें भोजन वस्त्र भी नहीं मिलता था ।

इसके पहले बताये गये पतित, मूर्ख आदि पुरुषों की स्त्रियाँ हों, किन्तु असक्त होने से उनसे वे सन्तान पैदा न कर सकें तो उनके बंधु बान्धव उनकी पत्नियों से सन्तान पैदा करें । वे सन्तान अपनी परम्परागत संपत्ति के उत्तराधिकारी माने जाने चाहिए ।[1]

कौटिल्य के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि समाज के परिदृश्य में नियोग प्रथा विद्यमान थी, नियोग प्रथा के द्वारा जो संतान पैदा होती है उनको उनकी परम्परागत संपत्ति का उत्तराधिकारी माना गया है । कौटिल्य ने समाज की विसंगतियों को देखते हुए जो भी व्यवस्था प्रदान की है यदि उसका समाज में पालन किया जाय तो कुछ हद तक ठीक ही होगा । व्यवस्था में परिवर्तन-समय की माँग के अनुसार होता रहता है । इसलिए आधुनिक समाज कौटिल्य की व्यवस्था पर नहीं चल सकता ।

1- तेषां च कृतदाराणां लुप्ते प्रजनने सति ।
सृजेयुर्बान्धवाः पुत्रांस्तेषामंशान् प्रकल्पयेत् ।।

कौटिल्य {83/5

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पैतृक क्रम से विशेषाधिकार

एक स्त्री के जब बहुत से लड़के हों, तो उनमें से सबसे बड़े लड़के का हिस्सा निम्न प्रकार होना चाहिए ।[1]

ब्राह्मणपुत्र को बकरियां, क्षत्रियपुत्र को घोड़े, वैश्यपुत्र को गायें और शूद्र पुत्र को भेड़े ।[2]

उन पशुओं में जो काणे हों वे मझले पुत्र को और जो रंगविरंगे पशु होंवे सबसे छोटे पुत्र को दिए जांय ।[3]

यदि पशु न हों तो हीरे-जवाहरात को छोड़कर बाकी सारी सम्पत्ति का दसवां हिस्सा बड़े लड़के को अधिक दिया जाय, क्योंकि बड़ा लड़का ही पितरों का पिण्डदान एवं श्राद्ध करता है । अंश विभाग के सम्बन्ध में यह यह उशना [शुक्राचार्य] के अनुनायियों का मत है ।[4]

1- एकस्त्रीपुत्राणां ज्येष्ठांशः ।   कौटिल्य [3/6]

2- ब्राह्मणानामजाः,क्षत्रियाणामश्वाः,वैश्यानां गावः,शूद्राणामवयः ।
कौटिल्य [3/6]

3- काणलिङ्गास्तेषां मध्यमांशः,भिन्नवर्णाः कनिष्ठांशः ।
[कौटिल्य 3/6]

4- चतुष्पदाभावे रत्नवर्जानां दशानां भागं द्रव्याणामेकं ज्येष्ठो हरेत् । प्रतिमुक्तस्वधापाशो हि भवति । इत्यौशनसो विभागः ।
कौटिल्य [3/6]

मृतक पिता की सम्पत्ति में से सवारी और आभूषण बड़े लड़को को, सोने, बिछाने का सामान तथा पुराने बर्तन मझले लड़के को, और काला अन्न, लोहा तथा बैलगाड़ी आदि अन्य घरेलू सामान छोटे लड़के को मिलना चाहिए। बाकी बचे हुए सब द्रव्यों का या एक द्रव्य का बराबर-बराबर बंटवारा हो जाना चाहिए।[1]

दायभाग की अनधिकारिणी बहिने, माता की सम्पत्ति में से पुराने बर्तन तथा जेवरात ले लें।[2]

बड़ा लड़का यदि नपुंसक हो तो, उसको उसके निश्चित हिस्से में से तीसरा हिस्सा मिले। यदि वह कुछ अन्याय आचरण (चरित्रहीन) हो तो चौथा हिस्सा और यदि धर्मकार्यों से सदा दूर रहता हो तथा सब कुछ अपनी इच्छानुसार करता हो तो पैतृक सम्पत्ति का उसे कुछ भी उत्तराधिकार नहीं मिलना चाहिए।[3]

1- पितुः परिवापाद्यानमाभरणं च ज्येष्ठांशः, शयनासनं भुक्तकांस्यं च मध्यमांशः, कृष्णं धान्यायसं गृहपरिवापो गोशकटं च कनिष्ठांशः। शेषद्रव्याणामेकद्रव्यस्य वा समो विभागः।
कौटिल्य (3/6)

2- अदायादा भगिन्यः मातुः परिवापाद्भुक्तकांस्याभरणभागिन्यः।
कौटिल्य 3/6

3- मानुषहीनो ज्येष्ठस्तृतीयमंशं ज्येष्ठांशाल्लभेत। चतुर्थमन्यायवृत्तिः। निवृत्तधर्मकार्यो वा कामाचारः सर्वं जीयेत।
कौटिल्य (3/6)

मध्यम और छोटे लड़के के सम्बन्ध में भी ऐसे अवसरों पर ऐसा नियम समझना चाहिए । इन दोनों में से यदि एक नपुंसक न हो तो वह बड़े भाई के हिस्से में से आधा बाँट ले ले ।

ज्येष्ठपुत्र -

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में ज्येष्ठ पुत्र को अधिक महत्त्व दिया है । उस समय के समाज बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी, ऐसी स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र कौन समझा जायेगा ? इस प्रश्न का निराकरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है । यदि जुड़वा पुत्र पैदा होते हैं तो कौन ज्येष्ठ समझा जायेगा ? इसका भी उदाहरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है । कौटिल्य इस प्रकार उद्धृत किया है - "अनेक स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों में उसी पुत्र को बड़ा समझा जाय, जो अविवाहित स्त्री के मुकाबले में, विधिपूर्वक व्याह करके लाई गई है, भले ही उसका पुत्र पीछे पैदा हुआ हो, यदि एक स्त्री कन्या की अवस्था में पत्नी बनी और दूसरी स्त्री दूसरों द्वारा भोगी जाने के बाद पत्नी, तो उनमें से पहली का लड़का ही बड़ा समझा जाय, इसी प्रकार यदि किसी स्त्री के जुड़वा बच्चे पैदा हो जायें, तो उनमें वही बड़ा माना जाय जो पहिले पैदा हुआ है ।"[1]

1- नानास्त्रीपुत्राणां तु संस्कृतसंस्कृतयोः कन्याकृतक्रिययोरभावे च, एकस्याः पुत्रयोर्यमयोर्वा पूर्वजन्मना ज्येष्ठभावः ।

सूत, मागध, व्रात्य और रथकारों की सम्पत्ति

कौटिल्य के अनुसार-सूत, मागध व्रात्य और रथकारों की सम्पत्ति का, उनके ऐश्वर्य के अनुसार विभाग करना चाहिए। अर्थात् जो लड़का उनमें अधिक प्रभावशाली हो वह सम्पत्ति ले लेवे, और उसके बाकी भाई उस पर आश्रित रहकर जीवित रहें। यदि उनमें कोई एक अधिक प्रभावशाली न हो तो वे सम्पत्ति का बराबर-बराबर बाँट ले।[1]

वर्णों के अनुसार विभाग -

यदि किसी ब्राह्मण की चारो वर्णों की पत्नियाँ हों तो ब्राह्मणी से पैदा हुए पुत्र को चार भाग, क्षत्रिया स्त्री के पुत्र को तीन भाग, वैश्या पत्नी के लड़के को दो भाग और शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को एक भाग मिलना चाहिए।[2] इसी प्रकार यदि किसी क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा तीन पत्नियाँ हों, तथा वैश्या की वैश्या और शूद्रा दो ही पत्नियाँ हो तो उनके पुत्रों का दायविभाग भी उक्त विधि से समझ लेना चाहिए।

1- सूतमागधव्रात्यरथकाराणामैश्वर्यतो विभागः शेषास्तमुपजीवेयुः। अनीश्वराः समविभागा इति।

2- चातुर्वर्ण्यपुत्राणां ब्राह्मणीपुत्रश्चतुरोऽशान् हरेत्, क्षत्रियापुत्रस्त्रीनंशान्, वैश्यापुत्रो द्वावंशौ, एकं शूद्रापुत्रः।

कौटिल्य (3/6)

यदि ब्राह्मण के घर में ब्राह्मणी और क्षत्रिया दोनों ही के पुत्र हों तो वे सम्पत्ति का बराबर-बराबर हिस्सा बाँट लेवें। अर्थात् ब्राह्मण के घर में उससे अव्यवहित नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न हुआ लड़का सम्पूर्ण सम्पत्ति के आधे का हिस्सेदार होगा। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के घर में उनसे अव्यवहित नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न हुए लड़के आधा हिस्सा पावे, जो पुंसत्व से युक्त हो, वह बराबर का ही हिस्सा लेवे।

कौटिल्य के अनुसार- समान या असमान वर्ण की स्त्रियों में से किसी एक के एक ही लड़का उत्पन्न हुआ हो, तो वह पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का मालिक होवे। और अपने बन्धु-बान्धवों का भरण पोषण करे। पारशव (ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ) ब्राह्मणों की सम्पत्ति के तीसरे हिस्से का मालिक होवे।[1]

कौटिल्य के अनुसार-सपिण्ड (मातृकुल की किसी स्त्री से उत्पन्न हुआ) अथवा नजदीकी खानदान की स्त्री से उत्पन्न हुआ लड़का सम्पत्ति के दो भाग ले सकता है जिससे कि वह अपने पिता आदि का पिण्डदान कर सके। इन सबके न होने पर मृतक का आचार्य अथवा शिष्य उसकी सम्पत्ति का अधिकारी है।

1- तुल्यातुल्ययोरेकपुत्रः सर्वं हरेत्। बन्धूंश्च विभृयात्। ब्राह्मणानां तु पारशवस्तृतीयमंशं लभेत्।

अथवा मृतक की स्त्री से नियोग द्वारा पैदा हुआ पुत्र या उसके मातृकुल के भाई अथवा समीप के रिश्तेदार, मृतक की सम्पत्ति के अधिकारी हैं ।

क्षेत्रे वा जनयेदस्य नियुक्तः क्षेत्रजं सुतम् ।

मातृबन्धुः सगोत्रो वा तस्मै तत् प्रदिशेत् धनम् ।।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुत्रक्रम से उत्तराधिकार -

पुरातन आचार्यों का मत है कि दूसरे के क्षेत्र में डाले हुए बीज का मालिक क्षेत्रपति ही होता है ।[1] अर्थात् किसी पुरुष से अन्य की स्त्री में उत्पन्न किया हुआ बच्चा, उस स्त्री के पति की ही सम्पत्ति होती है । परन्तु दूसरे विद्वानों का मत है कि जो बच्चा जिसके वीर्य से पैदा हो वह उसी का समझा जावे । कौटिल्य का कहना है कि वे दोनों ही उस बालक के पिता समझे जाने चाहिए ।

"विद्यमानमुभयमिति" कौटिल्यः ।

1- परपरिग्रहे बीजमुत्सृष्टं क्षेत्रिण "इत्याचार्याः ।

<u>कौटिल्य के अनुसार पुत्रों के प्रकार -</u>

1- विधिपूर्वक विवाहित स्त्री से उसके पतिद्वारा पैदा किया हुआ पुत्र औरस कहलाता है ।[1]

2- उसी के समान (औरस पुत्र के समान) लड़की का लड़का (पुत्रिकापुत्र) समझा जाता है ।[2]

3- समान गोत्र अथवा भिन्न गोत्र वाले किसी पुरुष से अपनी स्त्री के साथ नियोग कराकर जो बच्चा पैदा किया जाता है, वह क्षेत्रज कहलाता है ।[3]

क्षेत्रज पुत्र के सम्बन्धमें कौटिल्य ने यह भी कहा है कि यदि उत्पन्न करने वाले पुरुष के और कोई लड़का नहीं है तो वही दो पिता (द्विपितृक) अथवा दो गोत्र वाला (द्विगोत्र) लड़का उन दोनों के पिण्डदान और सम्पत्ति का अधिकारी होता है ।

4- उसी के समान जो बच्चा स्त्री के बन्धु-बान्धवो के घर रहते हुए छिपे तौर पर पैदा होता है वह गूढज कहलाता है ।[4]

1- स्वयंजात: कृतक्रियायामौरस: ।

कौटिल्य (3/7)

2- ते तुल्य: पुत्रिकापुत्र: । कौटिल्य 3/7

3- सगोत्रेणान्यगोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजात. क्षेत्रज. पुत्र. ।

4- तत्सधर्मा बन्धुनां गृहे गूढजातस्तु गूढज: ।

कौटिल्य 3/7

5- यदि बन्धु-बान्धव उसको अपने यहाँ न रखें और कहीं जाकर उसको डाले दें, या फेंक दें, तो जो कोई उस बच्चे का पालन-पोषण कर ले उसी का (संस्कर्तुः) वह लड़का समझा जाता है । उसी की सम्पत्ति का वह उत्तराधिकारी होता है ।

6- कन्या के गर्भ से जो बच्चा पैदा हो उसे कानीन कहते हैं ।[1]

7- गर्भवती स्त्री का विवाह होने पर जो बच्चा पैदा हो उसे सहोढ कहते हैं ।[2]

8- दुबारा व्याहता स्त्री से जो बच्चा पैदा हो उसे पौनर्भव कहते हैं ।[3]

पिता या बन्धुओं से स्वयं उत्पन्न किया हुआ बच्चा उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है । जो पुत्र गूढ़ज पुत्र के समान दूसरे से पैदा हुआ हो वह अपने पालन पोषण करने वाले की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है बन्धु-बान्धवों की सम्पत्ति का नहीं ।

9- उसी के समान ही जो बालक-माता-पिता के द्वारा, हाथ में जल लेकर, किसी दूसरे को दिया जाय वह दत्त कहलाता है । और पालन करने वाले की सम्पत्ति का वह उत्तराधिकारी होता है ।[4]

1- कन्यागर्भः कानीनः । कौटिल्य 3/7

2- सगर्भोढायाः सहोढः । कौटिल्य 3/7

3- पुनर्भूतायाः पौनर्भवः ।

4- तत्सधर्मा मातापितृभ्यामद्भिर्मुक्तो दत्तः ।

10- जो स्वयं या बन्धुओं के द्वारा पुत्रभाव से प्राप्त हुआ है वह उपगत है ।[1]

11- जिसको पुत्र-भाव से स्वीकार कर लिया गया हो वह कृतक है ।[2]

12- जो खरीद कर पुत्र बनाया गया हो, वह क्रीत है ।[3]

औरस पुत्र के उत्पन्न होने पर, अन्य सवर्ण स्त्रियों के उत्पन्न हुए लड़के, पिता की जायदाद के तीसरे हिस्से के मालिक होते हैं और जो असवर्ण स्त्रियों से उत्पन्न हों, वे केवल भोजन वस्त्र पा सकते हैं ।

सवर्ण और असवर्ण का निरूपण -

कौटिल्य के अनुसार- ब्राह्मण और क्षत्रिय के अनन्तर (ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय और क्षत्रिया के लिए वैश्या) जाति की स्त्री से उत्पन्न हुए पुत्र सवर्ण ही समझे जाते हैं । जो एक जाति के व्यवधान से उत्पन्न हों अर्थात् ब्राह्मण से वैश्या में, क्षत्रिय से शूद्रा में, वे असवर्ण समझे जावें ।[4]

1- स्वयं बन्धुभिर्वा पुत्रभावोपगत उपगतः ।

2- पुत्रत्वेनाङ्गीकृतः कृतकः ।

3- परिक्रीतः क्रीत इति ।

4- ब्राह्मणक्षत्रिययोरनन्तरापुत्राः सवर्णा एकान्तरा असवर्णाः ।

कौटिल्य 3/7

निम्न जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र -

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण का वैश्या में उत्पन्न हुआ पुत्र अम्बष्ठ कहलाता है ।[1] ब्राह्मण से जो शूद्रा में उत्पन्न होता है, उसे निषाद या पारशव कहते हैं ।[2] क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न हुआ पुत्र उग्र कहाता है ।[3] वैश्य को जो शूद्रा में उत्पन्न हो वह शूद्र ही रहेगा ।[4]

व्रात्य -

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्वारा सवर्णा स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों का यदि यथा समय विधिपूर्वक उपनयन एवं ब्रह्मचर्य आदि संस्कार न किया जाय तो वे व्रात्य हो जाते हैं । ये सब अनुलोम विवाहों से पैदा होते हैं । अनुलोम का तात्पर्य है कि उच्च वर्ण पुरुष का निम्न वर्ण स्त्री से सम्पन्न विवाह ।

उच्च जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र -

शूद्र द्वारा वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र क्रमशः आयोगव, क्षत्ता और चण्डाल कहलाते हैं ।[5]

1- ब्राह्मणस्य वैश्यायामम्बष्ठः । कौ0 3/7

2- शूद्रायां निषादः पारशवो वा । कौ0 3/7

3- क्षत्रियस्य शूद्रायामुग्रः । कौ0 3/7

4- शूद्र एवं वैश्यस्य । कौ0 3/7

5- शूद्रादायोगवक्षत्तृचण्डालाः । कौ0 3/7

वैश्य द्वारा क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र क्रमशः मागध और वैदेहक कहलाते हैं।[1] क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता है।[2]

किन्तु पुराणों में वर्णित सूत और मागध इनसे सर्वथा भिन्न हैं और वे ब्राह्मण तथा क्षत्रियों से भी श्रेष्ठ हैं।

क्षत्रियोंxसेxभीxश्रेष्ठxहैं।

संकर जातियों में उत्पन्न पुत्र -

क्षत्रिय-शूद्रा से उत्पन्न उग्र पुरुष द्वारा निषाद जाति की स्त्री में उत्पन्न बालक कुक्कुट कहलाता है। निषाद पुरुष उग्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र पुल्कस कहलाता है। अम्बष्ठ पुरुष वैदेहिका स्त्री में उत्पन्न पुत्र वेण कहलाता है। वैदेहिक पुरुष से अम्बष्ठा स्त्री में उत्पन्न पुत्र कुशीलव कहलाता है। इसी प्रकार उग्र-क्षत्ता से श्वपाक आदि अवान्तर संकर जातियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। वैण्य, कर्म करने से रथकार कहा जाता है।

उक्त संकर वर्णों का विवाह अपनी ही जाति में होता है पूर्वा-परगामी होने तथा धर्म का निर्णय करने में वे अपने पूर्वजों का अनुगमन करें। अथवा

1- वैश्यान्मागधवैदेहकौ। कौ0 3/7

2- क्षत्रियात् सूतः। कौ0 3/7

चाण्डालों को छोड़कर सभी संकर जातियों का धर्म, शूद्रों के ही समान समझना चाहिए ।

प्रजा की सुव्यवस्था का यही एक मात्र विधान है, जिसको करने पर राजा स्वर्ग जाता है अन्यथा उसको नरक होता है । ऐसा कौटिल्य को मत है ।

कौटिल्य अपने दायविभाग में बताया है कि -इन सभी संकर जातियों में जायदाद का बराबर हिस्सा होना चाहिए ।

इस सभी विधानों के होने के बाद भी कौटिल्य ने उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों की समाप्ति पर यह कहा है कि -"देश, जाति, संघ और गाँव के लिए जैसा भी धर्मोचित एवं श्रेयस्कर हो, उसी के अनुसार वहाँ का दाय विभाग करना चाहिए ।

देशस्य जात्याः संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः ।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत ।।

(षष्ठ अध्याय)

अधिनियमों में वर्णित उत्तराधिकार एवं विवाह तथा कौटिल्य

अधिनियमों में वर्णित उत्तराधिकार एवं विवाह तथा कौटिल्य

उत्तराधिकार की मुस्लिम विधि जिसे अरबी में इल्म-उल-परेज कहते हैं कुरान, परम्परा तथा पैगम्बर परम्परा स्वीकृत पूर्व-इस्लामी रिवाजों में पायी जाती है । तय्यबजी लिखते हैं -

"उत्तराधिकार की मुस्लिम विधि मृतक की सम्पत्ति पाने वाले व्यक्ति या एक से व्यक्तियों के वर्ग के चयन की योजना तथा सभी निकटतम संबन्धियों के प्रतियोगी दावों के सामंजस्य प्रस्तुत करने में अपनी पूर्णता और सफलता के लिए सदा ही प्रशंसित रही है ।"

मृत मुसलमान की सम्पत्ति का विनियोग-

अल सिराजियाह के अनुसार -

"मृतक की सम्पत्ति के प्रति चार कर्तव्य होते हैं जिनमें काजी द्वारा सम्पन्न कराया जाना चाहिए, प्रथमतः उसकी अन्त्येष्टि क्रिया होनी चाहिए जो न तो फिजूलखर्ची में हो और न उसमें कमी हो, द्वितीयतः उसकी शेष सम्पत्ति से उसके उचित ऋणों का भुगतान किया जाना चाहिए, तृतीयतः ऋण और कफन-दफन के व्यय के बाद बची हुई सम्पत्ति के एक तिहाई हिस्से का वसीयती-दान दिये जायँ तथा अन्ततः बची हुई सम्पत्ति दैवी ग्रन्थ (कुरान), परम्परा (पैगम्बर की) तथा विद्वानों के मत के अनुसार उत्तराधिकारियों में बाट दी जानी चाहिए ।

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार मृत मुस्लिम की सम्पत्ति ~~का विनियोग~~ का विनियोग नीचे लिखे क्रम से किया जायेगा-

1- उसके कफन-दफन के खर्च और मृत्यु-शय्या भारों का भुगतान (धारा 320)

2- इच्छा-पत्र प्रमाण, प्रशासन-पत्र या उत्तराधिकार पत्र प्राप्त करने का खर्च (धारा 321)

3- किसी मजदूर, कारीगर या घरेलू नौकर द्वारा मृत व्यक्ति की मृत्यु से पहले तीन महीने के अन्दर की गई सेवाओं की मजदूरी (धारा 322)

4- मृत व्यक्ति के सब ऋण क्रमशः उसके वचन-पत्रों के अनुसार (धारा 323 तथा 324)।

5- वसीयती दान जो उपर्युक्त-भुगतान के बाद अवशिष्ट के एक तिहाई से अधिक न हो । (धारा-325)

6- अवशेष सम्प्रदाय की विधि के अनुसार- वारिसों में वितरित होगा ।

कुरान में लिखा है -"अल्लाह ने तुम्हें संतति के सम्बन्ध में आदेश दिया है । पुरुष को महिला के हिस्से का दूना मिलेगा किन्तु यदि महिला (हिस्सेदार) दो या अधिक हों तो उन्हें मृतक द्वारा छोड़ी गई संपत्ति का दो-तिहाई मिलेगा और यदि एक ही महिला (हिस्सेदार) हो तो उसे मृतक सम्पत्ति का आधा मिलेगा । मृतक के माता पिता में से प्रत्येक, यदि मृतक की सन्तान हो तो सम्पत्ति का छठा भाग और यदि मृतक निःसन्तान हो तथा उसके माता-पिता उसके वारिस हों तो माता को तिहाई हिस्सा मिलेगा किन्तु यदि मृतक के भाई बहन हों तो माता वसीयती दान से बची संपत्ति का छठा भाग पायेगी ।"

मुस्लिम विधि के अनुसार (1) पति या पत्नी को वारिस माना गया। (2) पति या पत्नी, स्त्रियों और मातृबन्धुओं को विरासत के लिए सक्षम लोगों

के रूप में मान्यता दी गई । (3) (पुरुष) वंशजों के होते हुए भी माता-पिता और पूर्वजों को विरासत का अधिकार दिया गया ।

विरासत पहले पहल मनुष्य की मृत्यु होने पर खुलती है । उसके मरने से पहले कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष या भावी वारिस होने के आधार पर सम्पत्ति के किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता । जन्म से अधिकार मुस्लिम विधि में अज्ञात है ।

हिन्दू विधि के अन्तर्गत कोई पुरुष सदस्य सहदायिका सम्पत्ति में गर्भ में आते ही अधिकार प्राप्त कर लेता है और सब सदस्य पूरी-सम्पत्ति के संयुक्त स्वामी होते हैं । मुस्लिम विधि के अन्तर्गत पूर्वजों की मृत्यु हो जाने पर किसी वारिस का अधिकार पहले पहल अस्तित्व में आता है ।

मुस्लिम विधि के अन्तर्गत प्रतिनिधित्व का नियम

इसके अन्तर्गत प्रतिनिधित्व का बंटवारा प्रतिशाखा एवं प्रतिव्यक्ति के अनुसार किया जाता है । शिया विधि के अनुसार प्रतिशाखा और सुन्नी विधि के अनुसार प्रति-व्यक्ति बटवारा किया जाता है ।

एक शिया क अपने पूर्वमृत पुत्र य से उत्पन्न दो पौत्र प और फ तथा पूर्वमृत र से उत्पन्न पौत्र ब को छोड़कर मरता है । चूँकि प्रतिनिधित्व का नियम शिया लोगों में प्रचलित है, अतः बटवारा प्रतिशाखा होगा । फलस्वरूप प और फ

दोनों संयुक्त रूप से 1/2 सम्पत्ति पायेंगी और ब को अकेले 1/2 सम्पत्ति मिलेगी। यदि क सुन्नी होता तो उसकी सम्पत्ति का बटवारा प्रति-व्यक्ति होता और उसके पौत्र प,फ और ब प्रत्येक को उसकी सम्पत्ति का 1/3 भाग मिलता ।

अपवर्जन का नियम -

कुछ लोग वारिस होते हुए भी मुस्लिम विधि द्वारा उन पर आरोपित अड़चनों के कारण विरासत से अपवर्जित कर दिये जाते हैं । ये अड़चनें या अनर्हतायें व्यक्तिगत होती है और उन्हें अपवर्जन का आधार कहते हैं । मुस्लिम विधि के अनुसार ये आधार निम्नलिखित होते हैं -

§1§ मानव हत्या -

§क§ सुन्नी विधि के अनुसार -जो व्यक्ति किसी व्यक्ति की हत्या कर दे वह उसकी सम्पत्ति की विरासत का अधिकारी नहीं होता,चाहे हत्या जानबूझकर कर की गई हो या दैवयोग हो गई है ।

§ख§ शिया विधि के अनुसार- किसी व्यक्ति का हत्यारा केवल तभी स्थिति में उस व्यक्ति की विरासत से अनाधिकृत किया जाता है जब इरादतन हत्या की गई हो ।

§ग§ अनर्हता व्यक्तिगत होती है - उसके माध्यम से दावा करने वाले वारिसों पर उसका प्रभाव नहीं होता ।

उदाहरण -

क की मृत्यु एक पुत्र ख, एक पौत्र ग जो ख का पुत्र है और एक भाई घ को छोड़कर हो जाती है । अगर ख ने क की हत्या की है तो ख विरासत से बिल्कुल

अपवर्जित हो जाता है, परन्तु उसके कारण उसका पुत्र ग अपवर्जित नहीं होता। विरासत का अवतरण इस प्रकार होगा और ख मर गया हो, जिससे कि पौत्र घ कुल सम्पदा का उत्तराधिकारी होगा, क्योंकि घ दूर का वारिस है।

2- अधर्मजत्व -

शिया विधि के अनुसार-अधर्मज व्यक्ति किसी की सन्तान न होने के कारण अपने माता-पिता दोनों ही से विरासत प्राप्त करने के लिए अनर्हित होता है-परन्तु हनफी विधि के अन्तर्गत अधर्मज सन्तान पिता से तो नहीं परन्तु माता से विरासत पाने की हकदार है।

3- उत्तराधिकार में विबंधन -

यदि कोई व्यक्ति पहले उस व्यक्ति से जिसकी सम्पत्ति विरासत में प्राप्त की जानी है, अपनी रिश्तेदारी से इन्कार करता है, तो उसे बाद में उत्तराधिकार खुलने पर अपने बयान से इन्कार करने नहीं दिया जा सकता और उसे विरासत का दावा नहीं करने दिया जायेगा। रिश्तेदारी से इन्कार उत्तराधिकार में विबंधन का कार्य करता है।

जिस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पतित या पतित से पैदा हुए, नपुंसकों सर्वथा मूर्ख, उन्मत्त, अन्धे और कोढ़ी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते उसी प्रकार मुस्लिम विधि में भी, विबंधित व्यक्ति, अधर्मज व्यक्ति तथा हत्यारे व्यक्ति को उत्तराधिकार से अपवर्जित किया गया है।

"हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956"

पूर्व हिन्दू विधि अनेक पाठों तथा न्यायिक निर्णयों पर आधारित होने के कारण ग्राह्य नहीं रह गयी थी । इसी लिए इस अधिनियम में पुरुष तथा स्त्रियों में पूर्व-प्रचलित असमानता को दूर करके एक सर्वमान्य पद्धति द्वारा एक सूची उत्तराधिकारियों की प्रदान की गई जो अत्यन्त ही न्याय संगत है -

अनुसूची के वर्ग (1) के दायादों की सूची -

1- पुत्र

2- पुत्री

3- विधवा पत्नी

4- माता

5- पूर्व मृत पुत्र का पुत्र

6- पूर्व मृत पुत्र की पुत्री

7- पूर्व मृत पुत्री का पुत्र

8- पूर्व मृत पुत्री की पुत्री

9- पूर्व मृत पुत्र की विधवा पत्नी

10- पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र का पुत्र

11- पूर्व मृत पुत्र के मृत पुत्र की पुत्री

12- पूर्वमृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र की विधवा पत्नी।

अनुसूची के वर्ग{2} की सूची -

1- पुत्री

2{क} पुत्र की पुत्री का पुत्र {ख} पुत्र की पुत्री की पुत्री {ग} भाई {घ} बहन

3-{क} पुत्री के पुत्र का पुत्र {ख} पुत्री के पुत्र की पुत्री {ग} पुत्री की पुत्री का पुत्र

{घ} पुत्री की पुत्री की पुत्री

4- {क} भाई का पुत्र {ख} बहिन का पुत्र ग- भाई की पुत्री तथा घ-बहिन की पुत्री

5- {1} पिता का पिता तथा {2} पिता की माता

6- {1} पिता की विधवा तथा {2} भाई की विधवा पत्नी

7- {1} पिता का भाई तथा {2} पिता की बहन

8- {1} माता का पिता तथा {2} माता की माता

9- {1} माता का भाई तथा {2} माता की बहिन= योग = 23

अधिनियम की मुख्य विशेषताएं -

1- अधिनियम सभी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख के लिए लागू होता है । यह उन व्यक्तियों के लिए भी अनुवर्तनीय है जिनके माता पिता में कोई एक हिन्दू, बौद्ध, जैन, या सिक्ख हैं ।

2- उत्तराधिकार अधिनियम ऐसे व्यक्तियों की सम्पत्ति के लिए भी लागू नहीं होता जिनके विवाह के लिए विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधिनियम लागू होते हैं ।

3- अधिनियम, मिताक्षरा सहदायकी सम्पत्ति के लिए भी लागू नहीं होता, यदि सहदायिक अनुसूची (1) में उल्लिखित किसी स्त्री नातेदार अथवा ऐसे स्त्री नातेदार के माध्यम से दावा करने वाले (पुरूष) नातेदार को छोड़कर नहीं मरता किन्तु यह उल्लेखनीय है कि मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति की पूरी विचारधारा अधिनियम की धारा 6 से प्रभावित हुआ है । यदि अनुसूची के वर्ग (1) में उल्लिखित आठ स्त्री उत्तराधिकारियों में से किसी एक को छोड़कर कोई हिन्दू मरता है तो उसका सहदायिकी अंश उत्तरजीविता के आधार पर नहीं वरन् इस अधिनियम के अनुसार न्यागत होगा जिसके अन्तर्गत स्त्री एवं पुरूष दायादों को समान अंश प्राप्त करने का अधिकार होगा वस्तुतः मिताक्षरा सहदायिकी का आधारभूत सिद्धान्त ही धारा 6 के द्वारा समाप्त कर दिया गया है । मिताक्षरा सहदायिकी सम्पत्ति का न्यागमन उत्तरजीविता के सिद्धान्त के अनुसार केवल पुरूष दायादों में ही होता था, किन्तु अब प्रस्तुत धारा के अन्तर्गत स्त्री नातेदारों को भी उसमें हक प्रदान कर दिया गया है ।

4- उत्तराधिकार का क्रम, प्रेम तथा स्नेह के आधार पर निश्चित किये गये। पूर्व विधि के अन्तर्गत उल्लिखित रक्त सम्बन्ध अथवा पिण्डदान के आधार पर उत्तराधिकारी निश्चित करने का नियम, जो मिताक्षरा तथा दायभाग शाखाओं में प्रचलित था, समाहत कर दिया गया ।

5- अधिनियम में अधिमान्यता के बहुत सरल नियम अपनाये गये तथा जहाँ अधिमान्यता नहीं निर्धारित की जा सकती है, वहाँ उत्तराधिकारी एक ही साथ सम्पत्ति ग्रहण करते हैं ।

6- अधिनियम में दूर के सभी सपिण्डयों एवं सापार्शिकों को उत्तराधिकारी बनने का अवसर प्रदान किया गया ।

7- एक हिन्दू पुरुष की सम्पत्ति के सम्बन्ध में उत्तराधिकारी का एक समान क्रम प्रदान किया गया । कुछ परिवर्तन मरुमक्कतायम, तथा अलिय सन्तान विधि में लाये गये ।

8- दक्षिण की मातृ प्रधान पद्धति में प्रचलित उत्तराधिकार से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियमों को इस अधिनियम के अन्तर्गत निरस्त कर दिया गया है।

9- अधिनियम में हिन्दू नारी की सीमित सम्पदा की विचारधारा को समाप्त कर दिया गया । जो भी सम्पत्ति अब किसी नारी को दाय में या किसी भी वैध तरीके से प्राप्त होगी अथवा समस्त सम्पत्ति जो इस अधिनियम में लागू होने के दिन उसके आधिपत्य में होगी उन पर उसको पूर्ण स्वामित्व प्रदान कर दिया गया ।

10- हिन्दू नारी की पूर्ण सम्पत्ति के सम्बन्ध में उत्तराधिकार का एक समान क्रम प्रदान किया गया ।

यदि कोई स्त्री सम्पत्ति छोड़कर निर्वसीयत मरती है तो उसकी सन्तान उसकी प्राथमिक उत्तराधिकारी होगी, उसके बाद पति तथा पिता-माता क्रम से होगी । सन्तान न होने पर उसकी वह सम्पत्ति जो पिता से प्राप्त की गई थी, पिता को अथवा पिता के दायादों को चली आयेगी तथा पिता एवं श्वसुर से प्राप्त सम्पत्ति पति को अथवा उसके दायादों को प्राप्त हो जायेगी ।

11- सहोदर अथवा सगे सम्बन्धी सोतेले अथवा चचेरे सम्बन्धी को अपवर्जित करेंगे ।

12- जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी निर्वसीयती सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं, वे अपने अंश को व्यक्ति परक न कि पितृपरक रीति से सह-आभोगी के रूप में प्राप्त करेंगे ।

13- जहाँ किसी व्यक्ति की निर्वसीयती सम्पत्ति दो या दो से अधिक उत्तराधिकारियों को व्यागत होती है और उनमें से कोई एक व्यक्ति उस प्राप्त सम्पत्ति को बेचना चाहता है, तो दूसरे उत्तराधिकारी को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उस सम्पत्ति की प्राप्ति में अधिमान्य समझा जाय । इस प्रकार अधिनियम के पूर्वक्रम ५। अधिकार मान्य समझा गया । §22§ ।

14- अधिनियम में विधवा, अविवाहिता स्त्री तथा पति द्वारा परित्यक्त अथवा पृथक् हुई स्त्री को अपने पिता के घर में रहने का अधिकार प्रदान किया गया है ।

15- रोग, दोष तथा अंगहीनता किसी व्यक्ति को दाय प्राप्त करने से अपवर्जित नहीं करती । दाय अपवर्जन के आधार अब बदल दिये गये हैं । किसी व्यक्ति की हत्या करने वाला उस हत व्यक्ति की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में पाने में अपवर्जित कर दिया गया है । इसी प्रकार विधवा स्त्री यदि उत्तराधिकार के अध्याय के प्रारम्भ होने के दिन पुनर्विवाह कर लेती है तो वह भी उत्तराधिकार के निर्योग्य हो जाती है । इसी प्रकार धर्म-परिवर्तन किये हुए हिन्दू का वंशज भी दायप्राप्त करने के निर्योग्य हो जाता है ।

16- अधिनियम के अनुसार कोई भी हिन्दू (पुरुष) सहदायिकी सम्पत्ति में अपने हक को वसीयत द्वारा हस्तान्तरित कर सकता है ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में उत्तराधिकार की जो व्यवस्था की गई है वह अपने में एक आधार स्तम्भ है । पुरुष प्रधान भारतीय संस्कृति में कौटिल्य ने उत्तराधिकार की जो व्यवस्था प्रदान की है वह अपने समय की नीतियुक्त उच्च-कोटि की व्यवस्था थी । समय और परिस्थितियों के अनुसार समाज परिवर्तन-शील होता है, यही कारण है कि प्राचीन काल में जो परिस्थिति थी वह आधुनिक समय में परिवर्तित हो चुकी है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्त्रियों को सम्पत्ति का कोई अधिकार नहीं था, उनका अधिकार भरण पोषण तक सीमित था, केवल पुरुष वर्ग चौथी पीढ़ी तक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है । हिन्दी उत्तराधिकार अधिनियम-1956 में हिन्दू, जैन, बौद्ध, तथा सिक्ख सभी संकलित हैं । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 के तहत स्त्रियों को भी उत्तराधिकार से सम्बद्ध किया गया । पुरुष उत्तराधिकार की प्रथम श्रेणी में आता है, और वह प्रथम उत्तराधिकारी होता है, दूसरे नम्बर पर पुत्री का स्थान है । द्वितीय श्रेणी के उत्तराधिकारियों में पुत्री प्रथम स्थान पर हैं । मुस्लिम विधि में भी स्त्रियों को यथोचित उत्तराधिकार प्रदान किया गया है ।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो आज भी स्त्रियों की दशा चिन्तनीय है । स्त्रियों को आज भी किसी न किसी रूप में उत्तराधिकार से वन्चित रखा जाता है । किसी व्यक्ति का पुत्र प्रथम रूप से उसके मरने पर उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है । पुत्र के उत्तराधिकार पा जाने पर सभी उत्तराधिकार

से वञ्चित हो जाते हैं । अब उनका सम्पूर्ण जीवन पुत्र के ऊपर आश्रित हो जाता है । आधुनिक युग में स्त्री और पुरुष को समानता का दर्जा दिया जा रहा है, लेकिन यह असमानता विद्यमान ही है । यही कारण है कि पुरुष आज भी भारतीय संस्कृति के क्षितिज पर एकछत्र शासन कर रहा है ।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, संशोधित अधिनियम-1976 सहित ।

इस अधिनियम ने विवाह के धार्मिक स्वरूप को बदल दिया । विवाह को अब पुनीत संस्कार के अर्थ में नहीं माना जा सकता जैसा कि पूर्व विधि में माना जाता था । पूर्व विधि में विवाह पति पत्नी में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध उत्पन्न करता था, जिस सम्बन्ध को किसी भी स्थिति में नहीं तोड़ा जा सकता है । विवाह का संस्कारात्मक स्वरूप अधिनियम के अन्तर्गत समाप्त हो गया है .

अब हिन्दू विवाह अधिनियम की धाराओं के अन्तर्गत एक संविदा के समान हो गया है जिसके वैवाहिक जीवन की अवस्था में भंग किया जा सकता है । वर्तमान अधिनियम में विवाह-विच्छेद, विवाह की अकृतता तथा न्यायिक पृथक्करण के जो अनुतोष प्रदान किये गये हैं, उसे विवाह के मूल रूप में परिवर्तन हो गया है। इस सम्बन्ध में विवाह विधि [संशोधन] अधिनियम 1976 के द्वारा और अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये गये जिसमें सहमति से विवाह-विच्छेद तथा न्यायिक पृथक्करण के आधारों का एकीकरण अत्यन्त प्रमुख हैं । इससे विवाह का संस्कारात्मक स्वरूप पूर्णतया मलिन हो गया है ।

बाल विवाह अवरोध अधिनियम 1978 के पारित हो जाने के उपरान्त वर और कन्या की वैवाहिक आयु निश्चित कर दी गयी । अब विवाह के लिए कन्या की न्यूनतम आयु 18 वर्ष तथा वर की आयु 21 वर्ष होनी चाहिए । इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव यह होगा कि कन्या 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर वयस्क हो जायेगी और वह अपना जीवन साथी चुनने में समर्थ हो जायेगी । ऐसी स्थिति में

उसके संरक्षक की स्थिति अर्थहीन हो जायेगी । इस प्रकार संशोधित उपबन्ध के संदर्भ में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इसके संरक्षक द्वारा कन्या को दान में दिये जाने की बात, जो पूर्व हिन्दू विवाह की सार थी अब वह गौण हो गई है। इससे कन्या को अपना विवाह स्वयं तय करने की प्रेरणा मिलती है और यदि वह स्वयं इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग करती है तो विवाह पूर्णरूप से एक संविदा ही होगी, संस्कार नहीं ।

विवाह विधि को संहिताबद्ध करने के साथ-साथ जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस अधिनियम में लाये गये, वे इस प्रकार हैं-

(1) अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध नहीं किया गया । अधिनियम की धारा 29 के अनुसार पूर्व-सम्पन्न अन्तर्जातीय विवाह को भी वैध करार दिया गया ।

(2) एक-विवाह को विधि-मान्य बनाया गया । धारा 5 में यह कहा गया है कि यदि कोई विवाह इस अधिनियम के बाद सम्पन्न हुआ है और विवाह के पक्षकारों को कोई स्त्री अथवा पति जीवित हैं तो वह विवाह शून्य समझा जायगा ।

(3) बहु-विवाह को भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत अपराध घोषित कर दिया गया ।

(4) वैध विवाह की शर्तों एवं आवश्यकताओं को सरल बना दिया गया । सपिण्ड के सीमाक्षेत्र को कम कर दिया गया एवं प्रतिषिद्ध सम्बन्धों को सीमित कर दिया गया ।

§5§ न्यायिक विलगाव, विवाह-विच्छेद तथा विवाह की अकृतता की सुविधायें प्रदान की गयीं ।

§6§ शून्य तथा शून्यकरणीय विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को भी वैधता प्रदान की गयीं ।

§7§ वैवाहिक मामलों में नये अनुतोष प्रदान किये गये ।

§8§ न्यायालयों द्वारा सन्तानों के संरक्षण तथा भरण पोषण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये ।

§9§ सगोत्र विवाह के निषेध को स्वीकार नहीं किया गया । परिणामतः सब सगोत्रों के साथ विवाह विधिक रूप से हो सकता है ।

विवाह विधि §संशोधन§ अधिनियम 1976 के अन्तर्गत विविध विवाह-विच्छेद के लिए और भी अतिरिक्त आधार प्रदान कर दिये गये । उदाहरणार्थ- अभित्याग, क्रूरता आदि । इसी प्रकार स्त्रियों को पति के विरुद्ध तलाक प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त आधार प्राप्त हो गये हैं । तलाक को और अधिक सरल बना दिया गया है । अब इस संशोधन अधिनियम 1976 में पति-पत्नी आपस में परामर्श तथा सहमति से तलाक ले सकते हैं । इसके अतिरिक्त विवाह से एक वर्ष की अवधि व्यतीत हो जाने के बाद ही तलाक की याचिका दायर करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया ।

वैध विवाह की शर्तें - अधिनियम की धारा- 5 के अन्तर्गत -

वैध विवाह के लिए पाँच शर्तें उल्लिखित की गई हैं जो इस प्रकार हैं-

1- एक विवाह-

विवाह के दोनों पक्षकारों में किसी का पति अथवा पत्नी विवाह के समय जीवित नहीं होना चाहिए ।

2- अमूढ़ता -

विवाह के समय दोनों पक्षकारों में से कोई भी-

(क) मस्तिष्क-विकृति के परिणाम स्वरूप एक मान्य सहमति देने के योग्य नहीं है।

(ख) यदि वह सहमति देने के योग्य है, किन्तु इस प्रकार की मानसिक अव्यवस्था से पीड़ित है, अथवा इस सीमा तक पीड़ित है कि विवाह तथा सन्तान उत्पत्ति के अयोग्य है ।

(ग) पागलपन अथवा मृगी के दौरे से बार-बार पीड़ित होता रहता है -

3- आयु -

विवाह के समय वर-21 वर्ष का हो तथा कन्या-18 वर्ष की हो ।

4- विवाह के दोनों पक्षकार प्रतिषिद्ध सम्बन्ध के अन्तर्गत न आते हों ।

5- सपिण्ड न हो-

विवाह के दोनों पक्षकार एक-दूसरे के सपिण्ड न हों ।

न्यायिक-पृथक्करण तथा विवाह विच्छेद

विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम-1976 के पारित होने के उपरान्त अब न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह विच्छेद के आधार समान हो गये। जो निम्न प्रकार है -

(1) क्रूरता-जब याची के साथ दूसरे पक्षकार ने क्रूरता का व्यवहार किया है।

(2) जहाँ प्रत्युत्तरदाता ने विवाह के बाद स्वेच्छा से किसी दूसरे व्यक्ति के साथ लैंगिक सम्भोग किया है।

(3) अभित्याग

(4) कोढ़।

(5) रतिजन्य रोग।

(6) मानसिक विकृतता।

(7) धर्म परिवर्तन

(8) संसार त्याग (सन्यास धारण कर लेना)

न्यायिक पृथक्करण एवं विवाह विच्छेद में भिन्नता

न्यायिक-पृथक्करण की आज्ञप्ति प्राप्त कर लेने पर याची प्रत्युत्तरदाता के साथ सहवास करने के दायित्व से मुक्त हो जाता है। न्यायिक पृथक्करण से मुक्त हो जाता है। न्यायिक पृथक्करण से विवाह सम्बन्ध समाप्त नहीं होता

विवाह-विच्छेद की स्थिति में विवाह-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है । न्यायिक पृथक्करण की अवधि समाप्ति के बाद विवाह के दोनों पक्षकार आपस में फिर से पति-पत्नी की तरह रह सकते हैं । विवाह विच्छेद सदा के लिए होता है ।

दाम्पत्य अधिकार का पुनर्स्थापन-

हिन्दू विवाह अधिनियम-1955 की धारा 9 के अन्तर्गत दाम्पत्य-अधिकार की पुनर्स्थापना का प्रावधान किया गया है । इस धारा के अनुसार दाम्पत्य-अधिकार की पुर्नस्थापना के लिए न्यायालय में प्रार्थना पत्र दिया जा सकता है । वास्तव में हिन्दू विवाह का उद्देश्य दाम्पत्य-जीवन के सुख एवं सुविधा से सम्बन्धित है । विवाह के पक्षकारों को एक दूसरे के साथ रहने तथा सहवास करने का अधिकार है । वे एक-दूसरे से बिना किसी युक्तियुक्त कारण से अलग नहीं रह सकते । धारा 9 के अन्तर्गत इस अधिकार की पुर्नस्थापना के विषय में यह कहा गया है । जहाँ पर पति या पत्नी ने बिना युक्ति-युक्त कारण के एक-दूसरे के साथ रहना त्याग दिया है तो ऐसा परित्यक्त व्यक्ति जिला न्यायालय में याचिका द्वारा दाम्पत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिए प्रार्थना कर सकता है और यदि न्यायालय याचिका में वर्णित प्रार्थना तथा तथ्यों पर विश्वास करता है और उसकी दृष्टि में ऐसा अन्य कोई वैध अधिकार नहीं है जिससे प्रार्थना पत्र अस्वीकार किया जा सके तो ऐसा न्यायालय याचिका की प्रार्थना के अनुसार दाम्पत्य-अधिकार की पुनर्स्थापना के लिए आज्ञप्ति दे सकता है । " इस प्रकार इस धारा के अनुसार दाम्पत्य-अधिकार की पुर्नस्थापना के लिए न्यायालय तभी

आज्ञप्ति दे सकता है जब -

§1§ दो में से किसी पक्ष ने बिना युक्ति युक्त कारण के दूसरे के साथ रहना त्याग दिया हो ।

§2§ दाम्पत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिए दिये-गये प्रार्थनापत्र से न्यायालय सन्तुष्ट हो गया हो ।

§3§ प्रार्थनापत्र अस्वीकृत किये जाने के लिए कोई वैध आधार न हो ।

हिन्दू विवाह के संस्कार -

§1§ अधिनियम में विवाह के लिए किसी प्रकार के संस्कार का विवरण नहीं दिया गया है । धारा 7 में यह उल्लेख किया गया है कि हिन्दू विवाह उसमें के पक्षकारों में से किसी के प्रथागत आचारों और संस्कारों के अनुरूप किया जा सकेगा ।

§2§ जहाँ ऐसे आचार एवं संस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी आती है, जिसमें विवाह अग्नि के सम्मुख वर और वधू द्वारा मिलकर सात फेरे घूमना अनिवार्य है, वहाँ विवाह पूरा और बाध्यकारी तब होगा सातवाँ फेरा पूरा कर लिया जाता है ।

इस प्रकार की प्रथा होने के कारण विवाह को एक संस्कार का रूप दिया गया है । वर्तमान अधिनियम विवाह के लिए कोई विशेष कृत्य पूरा करने के लिए कोई बाध्य नहीं करता। यह पक्षकारों के ऊपर निर्भर करता है कि वे किस पक्ष की धार्मिक क्रियाओं द्वारा विवाह सम्पन्न करना चाहेंगे । विवाह की स्थिति मेंअनुष्ठानों का पूरा होना उपधारित कर लिया जाता है ।

उपसंहार

प्राचीन भारत के राज्य व्यवस्था, समाज व्यवस्था एवं विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों की सुस्पष्ट व्याख्या करने वाला ग्रन्थ स्वयं में अप्रतिम है । पूर्ववर्णित छह अध्यायों के सम्यक अनुशीलन से यह तथ्य विद्वद्वरेण्यों के मानस पटल पर अमिट छाप छोड़ देता है कि महामनीषी कौटिल्य के हृदय में साक्षात् सरस्वती का निवास था । इस अप्रतिम विद्वान ने किसी भी विषय को अपूर्ण नहीं छोड़ा है । इसी परम्परा का निर्वहन कौटिल्य ने विवाह एवं उत्तराधिकार विषयक अपनी विचार-धाराओं में भी किया है उक्त ग्रन्थ के अध्ययन से यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है कि भारतीय मानव जीवन से सम्बन्धित विवाह एवं उत्तराधिकार की व्यवस्था का वर्णन जिस भाँति कौटिल्य ने किया है उसका निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य है ।

यद्यपि इस जगत का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि-"सर्व. सर्वं न जानाति, सर्वज्ञो नास्ति कश्चन" तथापि कौटिल्य के विषय में उक्त सिद्धान्त,सिद्धान्त न रहकर अपवाद रूप में सत्य जान पड़ती है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य का दृष्टिकोण विवाह एवं उत्तराधिकार के विषय में अत्यन्त व्यापक था । जिसका परिणाम यह हुआ कि परवर्ती विचारक एवं शासन व्यवस्थापक ने भी न्यूनाधिक्य रूप में उनके ऋणी हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

क्र०सं०	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन संस्थान	प्रकाशन वर्ष
1-	ऋग्वेद संहिता	सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी	1980
2-	तैत्तिरीय संहिता	सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी	1988
3-	अथर्ववेद संहिता	सातवलेकर	•	1988
4-	ताण्डय महाब्राह्मण	सायणभाष्यसहितम्	आनन्दाश्रम पूना	1900
5-	शतपथ ब्राह्मण	आचार्य सायण क्षेमराज कृष्णदास	बम्बई	1987
6-	ऐतरेय ब्राह्मण	सा०भाष्य सहितम्	आनन्दाश्रम पुना	1900
7-	निरुक्त	यास्क टीकाकार छज्जराम	दिल्ली	1985
8-	मिताक्षरा	विज्ञानेश्वर	-	-
9-	तैत्तिरीयोपनिषद्	-	गीता प्रेस गोरखपुर	1987
10-	कात्यायन गृह सूत्र	-	- -	-
11-	बौधायन गृहसूत्र	-	-	-
12-	गोभिल धर्मसूत्र	-	-	-
13-	आश्वलायन गृहसूत्र	-	-	-
14-	मनुस्मृति	टीकाकार पं०गणेशदत्त पाठक	वाराणसी	सं02031
15-	विष्णु पुराण	श्रीराम शर्मा	मथुरा	1983
16-	कादम्बरी	बाणभट्ट(तारणीश झा)	इलाहाबाद	1985

17-	रामायण	पं0शिवदत्तशर्मा	विद्याभवन ग्रन्थमाला वाराणसी	1990
18-	याज्ञवल्क्य स्मृति	टीकाकार पं0 गणेशदत्त पाठक	वाराणसी	सं02031
19-	हिरण्यकेशी	-	-	-
20-	वृहत्पाराशर	-	-	-
21-	स्मृतिचन्द्रिका	-	-	-
22-	रघुवंश	कालिदास अनुवादक	चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी	1978
23-	कामसूत्र	वात्सायन	राजस्थान	1984
24-	हर्षचरित	-	-	-
25-	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन	वी0एल0 फड़िया	आगरा	1980
26-	कौटिलीय अर्थशास्त्र	हि0 व्याख्याकार वाचस्पति गैरोला	विद्याभवन वाराणसी	1977
27-	हिन्दू संस्कार	डा0राजबली पाण्डेय	चौ0प्रकाशन, वाराणसी	सं02014
28-	धर्मशास्त्र का इतिहास	(प्र0भा)डा0पा0 वामन काणे(अनु0अर्जुनचौबे)	हिन्दी संस्थान पूना	1980
29-	वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्यबलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान वाराणसी	1973
30-	हिन्दू विधि	डा0यू0पी0डी0केशरी	सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी इलाहाबाद	1985
31-	मुस्लिम विधि	अकिल अहमद	"	1982

32-	अदभुत भारत	ए०एल०वाशम	शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा	1986
33-	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	डा०जयशंकर मिश्र	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी	1974
34-	मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	चौबे एवं श्रीवास्तव	लखनऊ	1979
35-	भारत वर्ष का सामाजिक इतिहास	विमल चन्द्र पाण्डेय	-	-
3"	पूर्व कालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था पर प्रकाश	रामशरण शर्मा	दिल्ली	1977
37-	प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम व्यवस्था	डा०मनोरमा जौहरी	वाराणसी	1979
38-	द सोशल आर्डर	आर०वर्टेड	न्यूयार्क	1957
39-	कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया	जी०एस० घुर्ये	न्यूयार्क	1950
40-	हिन्दू सोसाइटी एण्ड इण्टरपटेशन	इरावती कर्वे	पूना	1968
41-	हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन	पी०एच० प्रभु		
42-	हिन्दू पालिटी	के०पी० जायसवाल	-	-
43-	ए-हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आयडियाज	यू०एन० घोषाल	-	-

44- भारतीय संस्कृति — डा० डी०एन एस० यादव एवं एल०गोपाल

45- पौराणिक धर्म एवं समाज — एस० एन० राय

46- प्राचीन भारत में वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्य बोध — अतुलकुमार सिन्हा

47- सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ, इन एन्सिएन्ट इण्डिया — सन्ध्या मुखर्जी

48- हिन्दू सिविलाइजेशन — राधाकुमुद मुखर्जी

49- द सोशल इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्सिएन्ट इण्डिया — के०एल० दफ्तरी नागपुर, 1947

50- हिन्दू मेनर एण्ड कस्टम्स — ए० डुबोइस

51- कान्ट्रीब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलाजी — डी०पी०काक एण्ड एल, डयूमण्ड

52- स्टडीज इन इण्डियन सोशल पालिटी — डी०एन०दत्त, कलकत्ता- 1944

53- ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया — एन०के०दत्त कलकत्ता, 1944

54- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पब्लिक लाइफ — यू० एन० घोषाल- आम्बे, 1966

55- स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर — यू० एन० घोषाल कलकत्ता 1977

56- स्टडीज इन पौराणिक रिकार्ड्स आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स — आर०सी० हाजरा ढाका, 1940

57- संस्कृत साहित्य एवं वैदिक संस्कृति — डॉ०रामगोविन्द त्रिवेद चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 1987

58- ऋग्वैदिक इण्डिया — अविनाश चन्द्रदास, कलकत्ता, 1967

59- एज आफ दि ऋग्वेद — एम०एम० ला दिल्ली, 1985

60- शतपथ ब्राह्मण — वेवर वर्लिन 1855

61- शतपथ ब्राह्मण — गङ्गा प्रसाद उपाध्याय, इलाहाबाद, 1982

" " सायणकृत — क्षेमराज कृष्णदास बम्बई, 1987

62- पं० भगवतदत्त — वैदिक वाङ्मय का इतिहास दिल्ली 1976

64- आर्कटिक होम इन द वेदाज — लोकमान्य तिलक 1968

65- संस्कृत साहित्य का इतिहास — वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1989

66- वैदिक साहित्य और संस्कृति — वाचस्पति गैरोला 1989

67- अथर्ववेद कालीन संस्कृति — डा०कपिल देव द्विवेदी, इलाहाबाद, 1985

68- हिस्ट्री आँफ इण्डियन लिटरेचर — वेवर 1887

69- प्राचीन अद्भुत भारत की सांस्कृतिक झलक — एम० पी० श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1988

70- अथामरकोश — श्रीमदमरसिंह, निर्णय सागर बम्बई, 1952

71- वैदिक कोश — डा० सूर्यकान्त, वाराणसी, 1963

72- धातुपारायणम् — हेमचन्द्रसूरि, अहमदाबाद, 1979

73- आंग्ल संस्कृत शब्दकोश — थीडोर्नी, इन्दन, 1866

74- संस्कृत आंग्ल शब्दकोश — कार्ल केपलर वाराणसी, 1972

75- आंग्ल हिन्दी शब्दकोश — फादरकामिल बुल्के, दिल्ली, 1985

सूची-पत्रिका

1- आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस

2- आर्टिक्स एशिया

3- आवर हेरिटेज

4- इण्डिो स्टूडियन

5- इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, इलाहाबाद

6- गुरुकुल पत्रिका

7- भारतीय विदया

8- वेदान्त केशरी

9- पूना ओरियण्टएमलिस्ट

10- जर्नल आफ गङ्गानाथ झा इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद

11- जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल

12- जर्नल आफ बाम्बे यूनिवर्सिटी

13- तमिल कल्चर

14- कल्चरल इण्डिया

15- एशियाटिक रिव्यू

16- समाज धर्म एवं दर्शन